छिन्नमस्ता

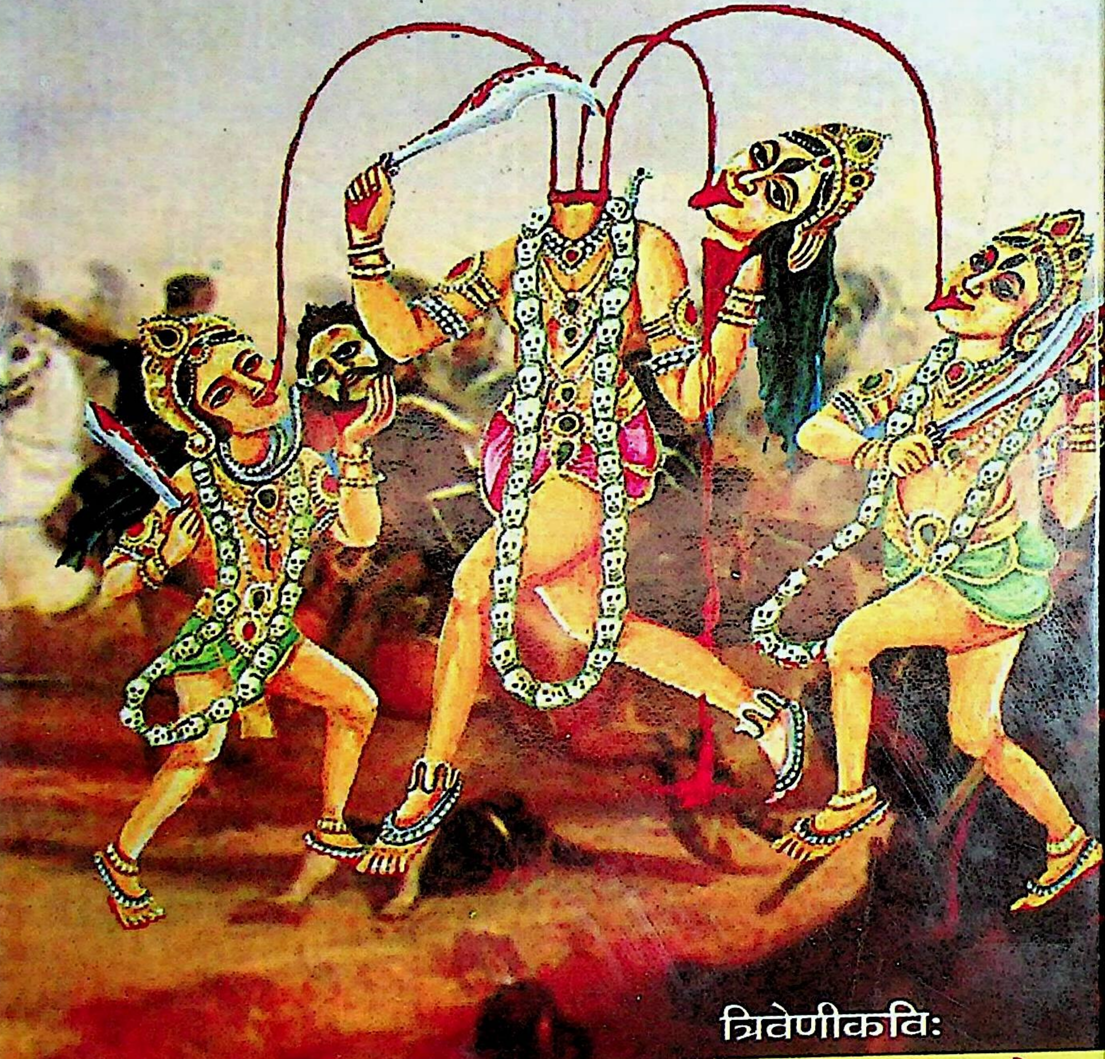

त्रिवेणीकविः

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः

પરમ શ્રદ્ધેય ભાઈશ્રીનાં

સ ચરણસ્પર્શ.

[illegible]

૨૬.૨.૯૯

छिन्नमस्ता

।। अभिनवा संस्कृतकथासङ्कलना ।।

कथाकारः
त्रिवेणीकविः
मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः
ब्रह्मर्षिमहामहोपाध्यायादिपदवीविभूषितः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयीयकुलपतिचरः
समवाप्तराष्ट्रपतिसम्मानः

वैजयन्त प्रकाशन
इलाहाबाद

छिन्नमस्ता

।। अभिनवा संस्कृतकथासङ्कलना ।।

कथाकारः
समवाप्तमहामहिमराष्ट्रपतिसम्मानः
मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः

प्रथमसंस्करणम् : जनवरी 2010 ई०
कॉपीराइट © : लेखकाधीनः
ग्रन्थमूल्यम् : शतत्रयरूप्यकाणि

ISBN 978-93-80632-001

प्रकाशकः
वैजयन्तप्रकाशनम्
8, बाघम्बरीमार्गः, भरद्वाजपुरम्
इलाहाबादम्-211006

मुद्रकः
दूबे प्रिन्टर्स एण्ड ग्राफिक्स
50 अ, बलरामपुर हाउस
इलाहाबादम्-211006

CHINNAMASTĀ

॥ A Collection of New Sanskrit Stories ॥

Storywriter
Triveni Kavi
Prof. Abhirāja Rajendra Mishra
Honoured with Brahmarṣi & Mahāmahopādhyāya
Ex Vice-Chancellor, Sampurnānand Sanskṛta University
&
Recipient of the Rāṣṭrapati Sammāna

Vaijayanta Prakashana
Allahabad

CHINNAMASTĀ

|| A Collection of New Stories ||

Storywriter
Prof. Abhirāja Rajendra Mishra
Recipient of the Rāṣṭrapati Sammāna

First Edition	:	January 2010 A.D.
Copyright ©	:	The Author
Price of the Book	:	Rs. Three Hundred Only

ISBN 978-93-80632-001

Publisher :
Vaijayanta Prakashan
8, Baghambari Road, Bharadwajapuram
Allahabad-211006

Printed At :
Dubey Printers & Graphics
50 A, Balrampur House
Allahabad-211006

कथाकथ्य : मनस्तथ्य

कथा-कथानिका रम्या ततो रम्या श्रुतिप्रथा।
उत्तमा सा भवेन्नूनं राजेन्द्रमुखनिर्गता।।

'छिन्नमस्ता' मेरे सम्मुख विराजमान है। मैंने तन्मय होकर उसका अवलोकन किया है। किन्तु मैं अनुभव कर रहा हूँ कि उसे चाहे जितनी बार भी देखूँ, एक बार देखने की ललक बनी ही रहेगी। उसका सौन्दर्य ही कुछ ऐसा है। सहृदयता गलबहियाँ डाले उससे कुछ ऐसी मिली-लिपटी है कि अलग होने का नाम ही नहीं लेती-आँखों में आँखें डाले निःशब्द। कभी आँसू ढुलके तो कभी मन छलका।

'छिन्नमस्ता' देवी है। वह जड़ नहीं है, उसमें प्राण प्रतिष्ठित हैं। छिन्नमस्ता होने मात्र से उसकी अपनी एक विशिष्ट पहचान बन गयी है किन्तु उसे पहचानने के लिए अन्तर्दृष्टि चाहिए। जिसका परिचय ठेठ गँवईं के परिवेश से होगा और जो माटी की महक से प्रफुल्लित होगा, उसके सामने छिन्नमस्ता अपना स्वरूप प्रकट करने में सङ्कोच नहीं करेगी-'जायेव पत्ये उशती सुवासाः।'

'छिन्नमस्ता' है 'अभिराज' प्रो० राजेन्द्रमिश्र की कथासङ्कलना। 'अभिराज' प्रो० राजेन्द्रमिश्र यह नाम, पर्याय है आधुनिक संस्कृत-साहित्य का। साहित्य की प्रचलित ऐसी कोई विधा नहीं जिसमें प्रो० मिश्र ने अपने कर्तृत्व की छाप न छोड़ी हो। नित्यनूतन सारस्वत उपहारों से भारती भाण्डार को भरने वाले और अपनी रचनाधर्मिता की सुगन्ध संस्कृतजगत् में बिखेरने वाले प्रो० मिश्र को हर संस्कृत जन जानता-पहचानता है।

किस्सागोई कोई सीखे तो 'अभिराज' प्रो० राजेन्द्रमिश्र से सीखे। 'छिन्नमस्ता' संस्कृत किस्सागोई की मिसाल है। इसमें नौ संस्कृत कथाएँ सङ्कलित हैं। ये नवों हैं एक से बढ़कर एक-'को बड़ छोट कहत अपराधू।' इन कथाओं को पढ़कर दादी की वह 'कहनी' याद आ गयी-"किहिनी ऐसी मिट्ठी औ' बात वैसी झुट्ठी।" यहाँ जो 'झुट्ठी बात' है, वह है कथाकार की कल्पना क्योंकि बिना कवि-कल्पना के काव्य की चरितार्थता हो ही नहीं सकती। भाई प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी के 'लोकानुकीर्तनंकाव्यम्' को हम अखबार की तरह पाठकों, श्रोताओं को परोस तो नहीं सकते न! चाशनी के बिना बेनीसाव की इमरती[१] में स्वाद कहाँ? यथार्थ वस्तु (लोकवृत्त) में आस्वाद लाने के लिए उसे कविकल्पना की चाशनी में डुबोना ही पड़ता है। साहित्य का स्वारस्य यही है। प्रो० मिश्र ने 'छिन्नमस्ता' की अपनी कथाओं में कुछ ऐसा ही किया है। यही कारण है कि इन्हें जो चखेगा वह भी पछतायेगा और जो नहीं चखेगा वह तो पछतायेगा ही।

---

१. जौनपुर शहर की एक प्रसिद्ध दूकान।

जो पाठक विशुद्ध नागर हैं, उन्हें प्रो० मिश्र की इन कहानियों में कुछ अटपटापन लग सकता है। जो पाठक विशिष्ट शिष्ट हैं, कोरे आदर्शवादी हैं उन्हें इन कहानियों में यहाँ-वहाँ साहित्यिक छिछोरेपन की बू भी आ सकती है (इनके लिए कहा जा सकता है- 'रसविशेष जाना तिन्ह नाहीं')। जो गाँव की छाँव में नहीं पले हैं, वे इन कहानियों के मर्म का स्पर्श भी नहीं कर सकते। जो गाँव की माटी में नहीं रचे-बसे हैं, उन्हें इन कथाओं की आत्मा के दर्शन भी नहीं होंगे। किन्तु जिन्होंने दादी-नानी की अंगुली पकड़ कर खेतों-खलिहानों, बाग-बगीचों में पैर रखे हैं अथवा, जिन्होंने महाकवि आचार्य क्षेमेन्द्र के साथ संस्कृतसाहित्य की सरस वीथियों में कुछ पल बिताये हैं अथवा जिन्होंने 'गाहासत्तसई' को गले लगाया है; उन्हें निश्चय ही 'छिन्नमस्ता' की कथाओं की समझ आयेगी। वे सहृदय ही इन कहानियों से तन्मय हो सकेंगे। बिना तन्मयता के आनन्द कहाँ?

मैं इन कहानियों की कोई समीक्षा नहीं करने जा रहा हूँ। समीक्षा करने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है क्योंकि 'उद्बाहुरिव वामनः' बन कर अपना उपहास नहीं कराना चाहता। हाँ, कहानी कहने से अधिक रुचि रखता हूँ कहानी सुनने में। कहानी कहने-सुनने का आनन्द तभी है जब कहने वाला 'रोचक' हो और सुनने वाला रेचक'। 'रेचक' का धर्म है 'हुँकारी' भरना। बस, यहाँ मैं यही करने चला हूँ। आप देखेंगे, प्रो० मिश्र कहानी सुना रहे हैं और मैं 'हुँकारी' भर रहा हूँ। मेरे इस हुँकारी भरने से यदि किसी सहृदय को इन कहानियों का 'गवाक्ष-दर्शन' हो जाय तो मेरा अहोभाग्य!

पहली कहानी है-'स आसीन्मम तातपादः।' इस कहानी में कुल तीन पात्र हैं-महेश्वर, श्रीपाल और पुरुषोत्तम पाण्डेय। कहानी श्मशानघाट पर तातपाद (पुरुषोत्तम पाण्डेय) के शवदाह से आरम्भ होती है। उनका समस्त श्राद्धकर्म महेश्वर करते हैं। दोनों में कोई कौटुम्बिक सम्बन्ध न था, फिर वे 'तातपाद' कैसे हुए? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए महेश्वर अपने अतीत में जाते हैं। पाठक या श्रोता की उत्सुकता बनाये रखना कहानी का गुण है।

मातृपितृविहीन महेश्वर मेधावी विद्यार्थी रहे। गाँव में प्रारम्भिक कक्षाओं का एक सहपाठी था अन्त्यजकुलोत्पन्न श्रीपाल। जब महेश्वर बारहवीं कक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए तो श्रीपाल उनसे आत्मीयतावश मिलने गया। वह पढ़ाई छोड़कर जीविका के लिए प्रयाग में रिक्शा चलाता है। महेश्वर की विपन्नता से परिचित है। उसकी प्रतिभा गाँव में कुण्ठित न हो जाय अतः आग्रहपूर्वक उसे प्रयाग ले जाकर विश्वविद्यालय में प्रवेश कराता है और उसके निवासादि की व्यवस्था करता है। महेश्वर को योग्यता-छात्रवृत्ति मिल जाती है और वह छात्रावास में रहने लगता है। आते-जाते कभी महेश्वर की दृष्टि वट-वृक्ष के नीचे बैठे एक अन्धभिक्षु पर पड़ती है, जो माँगता नहीं अपितु केवल 'राम-राम' जपता रहता है। लोग स्वयम् उसे कुछ दे देते हैं। लोग उसे श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते हैं। प्रारम्भ में तो महेश्वर उतना आकृष्ट नहीं हुए किन्तु

शनैश्शनैः उनकी भी श्रद्धा-भक्ति बढ़ती गयी और आत्मीयता का भाव उदय हुआ। परस्पर वे परिचित हुए और परिचय प्रगाढ़ होता गया। दोनों ने एक दूसरे का अतीत जाना और दुःख बाँटा। अन्धभिक्षुक के अतीत की करुणगाथा के समक्ष महेश्वर का अभाव, दैन्य स्वल्प ही प्रतीत हुआ। अन्धभिक्षुक को महेश्वर के रूप में अपना मृत पुत्र मिल गया और उस अन्धभिक्षुक के रूप में महेश्वर को तातपाद (पिता) मिल गये। पुत्र ने पिता से अपने लिए दो अधिकार माँगे। उसकी अन्त्येष्टि का और अपने भवन का नाम उसके नाम पर रखने का। दोनों की स्वीकृति मिली। महेश्वर ने ही तातपाद का श्राद्धकर्म किया और अपने घर का नाम 'पुरुषोत्तमभवन' रखा। 'पुरुषोत्तमन्यास' की स्थापना कर उनके द्वारा अर्जित धन का संरक्षण किया तथा उनके वासकुटी के स्थान पर वह 'पुरुषोत्तम-मन्दिर' का निर्माण कराने की इच्छा कर रहा है।

इस कथा में मानवीय मूल्यों का सहज उन्मेष और हृदय की उदात्तता का एक आदर्श बिम्ब परिलक्षित होता है। श्रीपाल का चरित्र अनुकरणीय है और महेश्वर की सत्यसन्धता तथा अन्धभिक्षुक की निस्पृहता श्लाघनीय है। अर्थलोलुपता मनुष्य को नीचता, क्रूरता की किस हद तक ले जाती है, इसका भी निदर्शन यह कथा कराती है।

दूसरी कहानी है-'प्रीतिदर्पणः'। इसमें केवल दो पात्र हैं-एक नारी पात्र-वत्सला और एक पुरुष पात्र-बाबूराम। वत्सला है उच्चशिक्षाप्राप्त महिलाअधिकारी और बाबूराम है एक सामान्य पढ़ा-लिखा सरकारी नौकर। बाबूराम कार्यालयीय कार्यों के निष्पादन के साथ ही वत्सला का सारा घरेलू काम और उसकी सेवा-सुश्रूषा करता है। अपने पारिवारिक दायित्वों को पूरा करने में ये दोनों सर्वात्मना समर्पित रहे और स्वयं अविवाहित रह गये। विवाह की आयु भी जाती रही। ये दोनों, अपने परिवार की सुधि लेते रहे किन्तु इनकी सुधि लेने वाला कोई नहीं। वत्सला सैंतीस वर्ष की हो गयी और सात वर्षों से उसकी सेवा में लगा बाबूराम तैंतीस वर्ष का। कृशकाय वत्सला प्रायः रुग्ण रहती है। अतः पथ्य और औषधियाँ भी बाबूराम के भरोसे हैं। बाबूराम, घर में एक अभिभावक जैसा व्यवहार करता है। उसे सदैव वत्सला के हितसाधन की चिन्ता रहती है। बाबूराम सोचता है कि मैडम ने विवाह क्यों नहीं किया? और मैडम सोचती है कि बाबूराम ने विवाह क्यों नहीं किया? बाबूराम की कुछ तर्कसङ्गत बातों से वत्सला की सोच बदलती है। वह बाबूराम को कुटुम्बसदस्य की दृष्टि से देखने लगती है। उसने उसे साथ बैठाकर चाय पिलाया और भोजन कराया। बाबूराम ने ससङ्कोच मैडम के आदेश का पालन किया। वत्सला ने मन ही मन बाबूराम को अपना पति मानकर उसके समक्ष विवाह का प्रस्ताव (आदेशात्मक) रखा। अन्ततः दोनों पति-पत्नी हो गये। बाबूराम ने नौकरी छोड़ दी और वत्सला ने एक सङ्गणक-केन्द्र स्थापित कर बाबूराम को उसका प्रबन्धक बना दिया। बाबूराम के दो पुत्र हुए और बाबूराम के माता-पिता भी उनके साथ रहते हैं।

यह कथा मानव-मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर निर्मित है। पारिवारिक स्वार्थपरता की कोख से इस कथा का जन्म होता है। वत्सला क्षुब्ध है कि उसने जिनके लिए सब कुछ करके उन्हें प्रतिष्ठित किया, वे वत्सला की तनिक भी चिन्ता नहीं करते। एक सामान्य से नौकर में उसे जो अपनापन मिला उससे उसकी अन्तर्वेदना मुखरित हुई और अपने उस संरक्षक को उसने स्वयं को समर्पित कर दिया। यह विशुद्ध प्रेम की एक सुखद परिणति थी। यद्यपि यह अविश्वनीय लग सकता है किन्तु मानव-मन को कौन जाने!

तीसरी कहानी का शीर्षक है-'मध्यमाज्जुका' (मँझली आजी)। मध्यमाज्जुका का नाम है देवकुमारी। इस कहानी की एकमात्र मुख्य पात्र यही है। यह कहानी कई पीढ़ियों वाले संयुक्त परिवार का एक जीवन्त चित्र है। आधुनिकता से दूर गाँव के किसी घर की महिलाएँ जेठ की दुपहरिया कैसे काटती हैं? उसे जानने के लिए यह कहानी ऐतिह्यदर्पण है।

गाँव के पुरोहित के घर की महिलाएँ-पुरानी और नयी बहुएँ-जेठ की एक दुपहरिया में घर के अन्दर मँझली आजी को घेर कर बैठी हैं और मँझली आजी, उनके अनुरोध पर, कुछ नया-पुराना सुना रही हैं। मँझली आजी का मान-सम्मान इसलिए है कि वे सुशिक्षित विद्वान् पण्डित ब्राह्मणों के उच्चकुल से व्याह कर आयी हैं और सुन्दर सर्वगुण- सम्पन्न हैं। उनकी स्मृति भी रत्नों की खान है, संस्मरणों का खजाना है और बात कहने का एक अलग अन्दाज है। इसीलिए बहुओं को उनके मुँह से खट्टी-मिट्ठी सुनना अच्छा लगता है। सर्वप्रथम वह अपने घर का ही एक किस्सा सुनाती है। गाँव में पहले पत्थर के कोल्हू से बड़ी मुश्किल से ईख का रस निकाला जाता था। सबसे पहले उन्ही के घर लोहे का कोल्हू आया। शहर से नजदीक की बाजार तक तो कोल्हू इक्के पर लाद कर लाया गया किन्तु बाजार से गाँव में, घर के दरवाजे तक लाने का एकमात्र साधन ऊँट था और वह मिला नहीं तो मँझली आजी के पति पण्डित रमापति उस समय गबरू जवान थे। उन्होंने कोल्हू का सबसे मोटा बड़ा बेलन सिर पर रखा। मँझला बेलन दुपट्टे से पीठ पर बाँधा, छोटे बेलन को हाथ में लिया और पनारी आदि फुटकर सामान बाँधकर कन्धे पर लटकाया और इस तरह अकेले ही पूरा कोल्हू लेकर घर आ गये। जिसने देखा-सुना रमापति के बलपौरुष को, दाँतों तले उँगली दबा ली। यह चर्चा बहुत दिनों तक दूर-दूर चली।

इसी बीच गाँव की नाइन एक दुःखद घटना सुना गयी। वातावरण करुण हो गया। किन्तु एक नववधू ने मँझिली आजी को फिर छेड़ दिया तो उन्होंने गाँव में सुबह-सुबह आग माँगने की परम्परा का रोचक वर्णन किया जो दियासलाई आ जाने से अब रुक गयी है। आगे उन्होंने गाँव में पचास वर्ष पहले स्त्रियों की कमी की बात बतायी और एक कामपिशाच 'बलजोर' का वृत्तान्त बताया। अपने दरवाजे पर कुँआ कैसे खोदा-बनवाया गया-इसके पीछे की कहानी भी बतायी। घर की खेती-बाड़ी का हाल भी सुनाया और फिर खटरपटर-काण्ड तथा खाटकाण्ड भी सुनाया। इस प्रकार भूली-

बिसरी मजेदार बातें सुना-सुनाकर घर की स्त्रियों को मझिली आजी ने खूब हँसाया।

यह कहानी पुराने-जमाने में, हाड़तोड़ मेहनत करने के बाद गाँव के घरों में महिलाओं के मनोरञ्जन का एक वृत्तचित्र प्रस्तुत करती है। किसी-किसी घर को सौभाग्य से मँझली आजी जैसे देवकुमारियाँ मिल ही जाती हैं। इस कहानी में कल्पना नहीं, ग्राम्य-जीवन का यथार्थ प्रतिबिम्बित है। रमापति और बलजोर जैसे पात्र-कुपात्र आज भी गावों में मिल जायेंगे और खबरिया नाइनों की भी कमी नहीं है। यह कहानी हास्य के साथ करुण तथा अचिन्त्य बीभत्स रस से भी सम्पुटित है। कहानी लम्बी है किन्तु कथाकार की वर्णन-शैली के कारण रोचकता अन्त तक बनी हुई है। वर्णित घटनाएँ यद्यपि परस्पर असम्बद्ध हैं तथापि उनकी बुनावट सतरंगी साड़ी की तरह शोभाधायक है।

प्रस्तुत कथासङ्कलना का शीर्षक बनने वाली अगली कहानी है-'छिन्नमस्ता'। इस सङ्कलना की श्रेष्ठ कथा है यह। यह कथा अनेक पात्रों और घटनाओं से संवलित है। महापण्डितों के परिवार में उत्पन्न युवक विश्वेश्वर कुलपरम्परानुसार, प्रति नवरात्र भगवती विन्ध्याचल देवी के धाम में आकर अपने पण्डा रामसुन्दर के यहाँ रहते हुए नवदिन पर्यन्त देवी की आराधना करता है। एक बार किसी नवरात्र में तीसरे दिन देवीधाम की एक गली में कामोन्मत्त साँड़ ने विश्वेश्वर को अपने मार्ग में बाधा समझ कर सींग से उछाल दिया। विश्वेश्वर गम्भीर आघात से मूर्च्छित हो गया। कानोंकान दुर्वृत्त सुनकर रामसुन्दर आया और उसने पहचाना फिर अपने साले रामदत्त के साथ उसे मीरजापुर सरकारी अस्पताल में उपचारार्थ ले गया। रामदत्त के साथ विन्ध्याचल में घटनास्थल पर उसकी पत्नी भी आयी थी। रामसुन्दर के द्वारा विश्वेश्वर के पिता महेश्वर और उनके गाँव का नाम सुनकर उसने विश्वेश्वर को जान लिया और अपने पति रामदत्त से कहा कि उस प्रतिष्ठित कुल को मैं जानती हूँ। उस परिवार में मेरी एक बहन व्याही हुई है। उसने अस्पताल में अत्यन्त वात्सल्यपूर्वक विश्वेश्वर की सेवा की।

अस्पताल में विश्वेश्वर की शय्या के पास नीचे लेटे हुए उसे रात में नींद न आयी। अतीत की स्मृतियाँ परत दर परत खुलती गयीं। वस्तुतः वह उसी कुल की वधू थी। दुर्भाग्य से विवाह के कुछ ही समय बाद वह विधवा हो गयी। नवयौवना का वैधव्य दुर्वह होता है। ऐसे दुर्दिन काटती हुई वह ससुराल में रह रही थी कि एक दिन इन्धन लेने मड़ई में गयी तो उपलों के बीच बैठे हुए काले सर्प ने उसे डँस लिया। सर्पविष का मन्त्रोपचार करने वाले गाँव के ही दलित वर्ग का कालूराम सूचना पाकर आया और उसने मन्त्र से उस पर सर्प का आवेश कराकर प्रश्नोत्तर किया तथा उसे झिड़ककर, डराकर भगाया। वह स्वस्थ तो हो गयी, किन्तु कभी-कभी विष का प्रभाव उमड़ता तो कालूराम आकर अपचार कर जाता। एकबार पुनः ऐसा हुआ किन्तु कालूराम भीषण ज्वर से आक्रान्त होने के कारण आने में असमर्थ था। तो जेठानी की अनुमति से घर की एक लड़की के साथ वह कालूराम के घर गयी। शाम के धुँधलके

के बावजूद उसे जाती हुई देखकर उस पण्डित-परिवार के द्वेषीजनों ने, उसका कालूराम से अनुचित सम्बन्ध हो गया है-ऐसा अपवाद फैला दिया। समाज इस मायने में आँख-कान मूँद कर विश्वास कर लेता है। अपने परिवार को अकारण कलङ्कित होता देख उसने गृहत्याग का निश्चय कर लिया। इसका अवसर भी उसे मिल गया। विन्ध्याचल की यात्रा पर आ रही जेठानी और देवर के परिवार के साथ वह भी यहाँ आ गयी और एक रात चुपके से उनको छोड़कर अन्यत्र चली गयी। जब उसने कई दिन बाद यह निश्चय कर लिया कि वे ढूँढ़ने में थकहार कर वापस चले गये होंगे तो लौटी। तभी गङ्गातट पर वृद्धतीर्थपुरोहित देवीदत्त से मुलाकात हो गयी। उन्होंने इसकी करुणगाथा सुनी तो उसे अपने साथ ले गये और अपने तरुणपुत्र रामदत्त के साथ इसका विवाह कर इसे सम्मान प्रदान किया। तब से यह सुखपूर्वक यहीं रह रही थी।

रामसुन्दर से खबर पाकर विश्वेश्वर के माता-पिता अस्पताल में आ गये। विश्वेश्वर की सेवा में लगी यह उस समय कहीं अन्यत्र गयी थी। विश्वेश्वर उसके बारे में बता ही रहा था कि वह आ गयी। उसके देवर-देवरानी ने उसे पहचान लिया तथा 'हमारे कुल की रक्षा के लिए यह जीवित छिन्नमस्ता निश्चय ही महामाया मृडानी है'-ऐसा कहकर कृतज्ञतापूर्वक सम्मान किया। विश्वेश्वर ने भी अभिभूत हो, उसी के साथ रहने का निश्चय कर उसके चरणों की धूलि को अपने मस्तक पर धारण कर लिया।

यह कहानी कहीं से भी कविकल्पित नहीं लगती। 'छिन्नमस्ता' की अन्वर्थता ही इस कथा का प्राणतत्त्व है। कथाकार ने 'छिन्नमस्ता' का कोई नामकरण नहीं किया है। सदैव उसका बोध सर्वत्र सम्बन्ध-सङ्केत से कराया है। 'छिन्नमस्ता' की अन्तर्ध्वनि के कारण ही कथा की श्रेष्ठता है। 'छिन्नमस्ता' भले ही तीर्थपुरोहित रामदत्त की पत्नी हो गयी है; किन्तु उसका अतीत निजत्व के रूप में उसकी गोद में आ बैठता है। कथा में घटनाओं की अन्विति का अत्यन्त सफल प्रयोग हुआ है।

पाँचवीं कहानी है-'प्रायश्चित्तम्'। इस कहानी का केन्द्र हरियाणा नस्ल की एक दुधार भैंस है जिसे बलदेवसिंह ने मुँहमाँगा दाम देकर खरीदा है। यह भैंस, बलदेव सिंह की ही नहीं, उस गाँव की शान बन गयी है। बलदेवसिंह का बड़ा बेटा रघु बड़ी लगन से उस भैंस की सेवा करता है और बलदेव सिंह की पत्नी की प्रसन्नता का तो कोई अन्त नहीं। सब कुछ बड़ा अच्छा चल रहा था किन्तु एक दिन दारुण दुर्घटना हो गयी। रघु, भैंस को नदी में से नहला कर घर ले चला। उसने भैंस की सीकड़ (लोहे का पगहा) का चुल्ला अपनी हाथ की कलाई में फँसा रखा था। तभी कुछ कुत्ते भौंकते हुए एक पागल कुत्ते का पीछा करते तेज दौड़ते आये। उन्हें इस तरह आता देख भैंस डरकर भागने लगी। पागल कुत्ते ने भैंस को कई जगह काट लिया। रघु का हाथ चुल्ले में फँसा ही रह गया। शुरू में तो वह जितना दौड़ सकता था, दौड़ा किन्तु अन्ततः गिर पड़ा और भैंस उसे बुरी तरह घसीटती हुई घर की ओर भागती रही।

गाँव पहुँचते-पहुँचते उन कुत्तों ने पागल कुत्ते को मार डाला और वापस हो गये। भैंस भी रुक गयी। रघु को इस हालत में लहूलुहान देखकर गाँव के लड़के दौड़े और चुल्ले से उसका हाथ निकालकर उसे घर ले गये।

उपचार द्वारा रघु तो स्वस्थ हो गया किन्तु रघु की दुर्दशा का कारण भैंस को मानती हुई बलदेवसिंह की पत्नी उस भैंस का घृणापूर्वक तिरस्कार करने लगी। रघु के बताने पर भी कि भैंस का कोई दोष नहीं, उसका व्यवहार भैंस के प्रति वैसा ही बना रहा। बलदेवसिंह और अन्य हितैषियों का मानना था कि भैंस ने रघु को पागल कुत्ते के काटने से बचाकर उपकार ही किया है। परन्तु ईर्ष्यालु जनों को जब ज्ञात हुआ कि पागल कुत्ते ने भैंस को काटा है तब वे बड़े प्रसन्न हुए कि विष के प्रभाव से भैंस शीघ्र ही मर जायेगी। ऐसा ही हुआ और कुछ दिनों बाद भैंस ने प्राण त्याग दिये। मानो भैंस ने रघु के साथ किये गये अपने दुष्कृत्य का प्रायश्चित प्राण देकर कर लिया। बलदेव ने अपने खेत के एक कोने में सम्मानपूर्वक उस भैंस को दफना दिया। बलदेव की पत्नी बहुत रोई और अब वह प्रतिदिन सन्ध्या समय वहाँ (उस स्थान पर) दीप जलाती है।

यह कहानी मानव-मन के साथ-साथ पालतू पशु की समवेदना का भी यथार्थ निरूपण करती है। प्रायश्चित्त भैंस ने किया अथवा, बलदेव सिंह की पत्नी कर रही है- यह या तो कथाकार जानता है या फिर सहृदय ही जाने। इसी भावभूमि की प्रो० मिश्र-प्रणीत एक और मार्मिक कथा 'कुक्की' उनके पूर्वप्रकाशित कथासंग्रह राङ्गडा में संकलित है। ये कथायें कथाकार की 'परकायप्रवेश-क्षमता' का अद्भुत निदर्शन हैं।

सङ्कलना की छठीं कहानी है-'मातुर्निमित्तम्'। यह कहानी उत्तरप्रदेश से गये एक नौकर 'कालीदीन' और पञ्जाब की एक धनाढ्य विधवा मालकिन 'गुरुमीतकौर' के परस्पर माँ-बेटे के समान विश्वास, प्रेम और सेवा की कहानी है। गुरुमीतकौर की अपनी कोई सन्तान न थी। एक दूर का भाञ्जा था। उसे गुरुमीत के सुख-दुःख से कुछ भी लेना न था। उसकी दृष्टि केवल उनकी सम्पत्ति पर थी और वह इसी प्रतीक्षा में रहता था कि गुरुमीत कब मरे! इधर कालीदीन कहने को तो नौकर था किन्तु वह सर्वात्मना गुरुमीत की सेवा में, पुत्र से भी अधिक लगा हुआ था। गुरुमीत भी उसे पुत्र के समान मानती थी। गुरुमीत की गम्भीर बीमारी में वह उसे अच्छे डाक्टर को दिखाता, दिन-रात औषधि और पथ्य से सेवा करता तथा उसे सान्त्वना देता। गुरुमीत धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगी। एक दिन सहसा उसका भाञ्जा जोगिन्दर जीप से आया। कुशल-क्षेम के पश्चात् जोगिन्दर ने अपनी माँ के साथ गुरुमीत की पूर्ववार्ता का स्मरण दिलाया और कहा कि जब कहो तो वकील को लेकर घर आ जाऊँ। गुरुमीत ने कहा- "बताती हूँ।" और वह घर के अन्दर जाकर वसीयत (उत्तराधिकार) का कागज ले आयी और कहा कि जाकर अपनी माँ से कहना-'मैं अकेली नहीं हूँ। मेरा पुत्र कालीदीन मेरे साथ है। अब उन्हें चिन्ता करने की जरूरत नहीं। यही मेरा दाहसंस्कार

करेगा, यही मेरा उत्तराधिकारी होगा। मैं उसी की माँ हूँ जो मेरे लिए जी रहा है, अपनी माँ के लिए।'

यह कथा विशुद्ध मानवीय सम्बन्धों पर आधारित है। इस कथा का मुख्यपात्र है कालीदीन जो अपने कर्तव्य (कर्म) का पूर्णतः पालन करता है। गरीब होते हुए भी उसकी दृष्टि गुरुमीतकौर की सम्पत्ति पर नहीं है अपितु माता के समान मानता हुआ उसकी हर प्रकार से सेवा में तल्लीन है। कालीदीन मानवता की प्रतिमूर्ति है। गुरुमीत भी माता का धर्म निभाती है। अपने सम्बन्धी तो स्वार्थमात्र का सम्बन्ध रखते हैं किन्तु कभी-कभी पराये लोग अपने सगे से भी अधिक सगे हो जाते हैं-यही यह कथा कहती है।

सातवीं कहानी का शीर्षक है-'वाडवाग्निः'। यह भी एक मार्मिक कहानी है। किसी सम्पन्न सेठ का कुलपरम्परा से सुबरन नाम का एक सेवक है। सेठ के पुत्र का वह बचपन का साथी है। सुबरन अपने परिवार के साथ सेठ के भवन के पास दी हुई कोठरी में रहता है। सेठ की मृत्यु के बाद उसका पुत्र उत्तराधिकारी सेठ बनता है। सेठ की पत्नी (सेठानी) पढ़ी-लिखी सुशीला महिला थी। परन्तु दुर्भाग्य से उसे कोई सन्तान न हुई। सुबरन के पुत्र-जन्म पर उसने जाकर सोहर गाया और मिठाई बाँटी। पुत्र का नाम जयेन्द्र (जित्तू) रखा। किन्तु सुबरन सेठ-सेठानी को निःसन्तान देखकर अत्यन्त दुःखी था। वह हृदय से अपने मालिक का योगक्षेम चाहता था।

एक रात सेठ के घर भीषण डकैती पड़ी। डकैतों ने सेठ को मारा-पीटा और गहने नकदी लूट ले गये। सूचना पाकर रात में ही पुलिस आयी। तहकीकात में उसे सुबरन के घर से, लूटे गये चाँदी के कुछ मामूली गहने मिले जिन्हें डकैत जानबूझ कर वहाँ डाल गये थे और सुबरन को इस बारे में कुछ भी पता न था। पुलिस सुबरन को सेठ के सामने ही मारपीट कर क़बूलवाती रही किन्तु सेठ, जो बचपन का साथी था, कुछ भी न बोला। सेठ के व्यवहार से सुबरन को बड़ी अन्तर्पीड़ा हुई। सुबरन को गिरफ्तार कर पुलिस ले गयी। बरामद गहनों के साक्ष्य पर मुकदमा चला और गरीब, निरपराध, असहाय सुबरन को दस साल जेल की सजा हुई। अपने उत्तम आचरण और सच्चारित्र्य से जेल के अधिकारी और साथी कैदी उसका बड़ा मान करते थे तथा उसे 'साधु' कहकर पुकारते थे।

सजा पूरी होने पर सुबरन साधु कारागार से छूटा। सभी ने फूल मालाओं से लादकर उसे विदा किया। श्रमोपार्जित कुछ धन भी प्राप्त हुआ। बाहर निकल कर सुबरन को पत्नी-पुत्र खोजने की चिन्ता हुई। सेठ के प्रति उसका मन कड़वा हो गया। उसने उससे प्रतीकार करने का निश्चय किया। किन्तु सेठानी की सदाशयता का वह आज भी कायल था। उसने सेठानी से मिलने का निश्चय किया। पहुँचा तो घर में सामने ही सेठानी और उसकी गोद में एक प्यारा बच्चा देख तथा बच्चे को सेठानी का बेटा समझ सुबरन खिल उठा। सेठानी ने देखकर उसे पहचाना और पास बैठाया। उसने उसकी पत्नी और सेठ के दिवङ्गत होने की बात बतायी। सेठ अन्त तक पछताता रहा सुबरन के लिए, ऐसा सेठानी ने बताया।

सुबरन अपने अन्दर जो वाडवाग्नि लेकर आया था, वह शान्त हो गयी। सेठानी ने बताया कि सेठ ने सुबरन को अन्ततः निर्दोष बताया था तथा उसके बेटे जयेन्द्र को ही अपना वारिस मान लिया था। सेठानी की गोद में भी उसका अपना बेटा नहीं, अपितु सुबरन का बेटा जयेन्द्र ही था। अर्थात् सेठानी का सब कुछ अब जयेन्द्र का ही था।

सुबरन के बचाव में सेठ का एक शब्द भी न बोलना उसकी दस वर्ष की कारागार-यन्त्रणा का कारण बना। सेठ ने अत्यन्त विश्वस्त मित्र, सेवक और निरपराध सुबरन पर सन्देह किया-यही सुबरन को अन्दर ही अन्दर सालता रहा कि दुनियाँ की निगाह में वह दुष्कृत्य न करते हुए भी डकैत बन गया। यही कारण था कि उसके अन्दर प्रति-शोध की वाडवाग्नि धधक उठी। किन्तु सेठानी की उदारवृत्ति से वह अन्ततः शान्त हो गयी। सेठानी सुबरन और जयेन्द्र को मिलाना चाहती है, परन्तु कृतज्ञ सुबरन अब जयेन्द्र को सेठ का ही वारिस मानता है। कहानी में भारतीय न्याय-व्यवस्था पर भी गहरा व्यङ्ग्य है।

आठवीं कथा है '**पितृष्वसा**'। पितृष्वसा का अर्थ है पिता की बहन अर्थात् बुआ। कहानी में बुआ का नाम है-मुक्ता (मोती)। कहानी का मुख्य पात्र यही है। बुआ बालविधवा थीं और अस्सी वर्ष का जीवन अपने नैहर में सुरक्षित बिताया। बुआ अपने भाइयों का परिवार सम्भालतीं, घर के कामकाज में हाथ बँटातीं और बच्चों का लालन-पालन उनकी माताओं से भी बढ़कर करतीं। बुआ का विवाह बचपन में हुआ, कुछ वयस्क हुईं तो गौना गया। महीने भर ससुराल में रहीं। उनके पति कलकत्ता गये कमाने तो लौटे ही नहीं। बुआ कुछ दिन बाद फिर ससुराल गयीं तो देवर ने उनके साथ अनैतिक सम्बन्ध बनाना चाहा। उसे फटकार कर वह नैहर आयीं तो आजीवन नैहर में ही रहीं, उसी परिवार का एक सदस्य बनकर।

परवशता अथवा विवशता-वश प्राचीन भारतीय-समाज की बालविधवायें अपनी सकल मनःकामनाओं को तिलाञ्जलि देकर, सतीत्व की रक्षा करती हुई आजीवन पितृकुल में निवास करती थीं। सामाजिक मर्यादा के ढोंग को उन्हें ढोना ही पड़ता था क्योंकि विधवा-विवाह की अनुमति न थी। इस कहानी के माध्यम से कथाकार ने इस ढोंग पर करारा प्रहार किया है। आज के प्रगत समाज में विधवा-विवाह अनुमन्य हो गया है। यदि मुक्ता बुआ आज के युग में होतीं तो वे पतिसुख से सम्पृक्त हो पुत्र-पौत्रों के सुख का अनुभव करतीं।

सङ्कलना की अन्तिम और नौवीं कथा है-'**कन्यादानम्**'। इसका मुख्यपात्र कलावती नाम की एक विधवा है जो आगे चलकर सधवा हो जाती है। कलावती सम्पन्न ब्राह्मण-परिवार में व्याही थी। सात वर्ष पर्यन्त पति के साथ रानी की तरह रही किन्तु दुष्ट विधाता ने उसकी माँग उजाड़ दी। एक पुत्री की माँ थी वह। वह गाँव पापाचार के पङ्क से सना था। कुलमर्यादा का भरसक पालन करती हुई भी अन्ततः वह भी उसी पङ्क में डूब गयी।

पड़ोसी सम्पन्न चौबे दामोदर विधुर था। वह हिरना नाम की अपनी नौकरानी के साथ कामवासना की पूर्ति करता था किन्तु दृष्टि थी कलावती के उद्दाम यौवन पर। हिरना के माध्यम से उसने कलावती को पा लिया। दोनों रात में गाँव के बाहर कहीं मिलते थे। कलावती को पाकर दामोदर हिरना की उपेक्षा करने लगा तो उसने यह रहस्य कलावती के देवरों से बता दिया। देवरों ने दामोदर-कलावती को, हिरना के सङ्केत पर, कुकृत्य-काल में ही पकड़ लिया और दामोदर को पीट कर अधमरा कर दिया। कलावती को भी थुत्कार कर वे चले आये। कुछ देर बाद दामोदर को होश आया तो कलावती उसे उसके घर ले गयी और फिर उसी के साथ पत्नी की तरह रहने लगी। कुछ दिन तक यह कलङ्क कामचर्चा चली और क्रमशः शान्त हो गयी। हिरना दोनों घरों में यथेष्ट आती-जाती रही। कलावती ने पुत्री और अपना हिस्सा पाने का बहुत उपाय किया और न्यायालय की शरण में भी गयी किन्तु हार गयी। पुत्री ने तो प्रत्यक्षतः उसे धिक्कार कर माता मानने से ही मना कर दिया।

कलावती अपनी पुत्री के विवाह में कन्यादान करने से वञ्चित रही। वह उस दिन अत्यन्त पश्चात्ताप और वेदना से मरी जा रही थी किन्तु हिरना ने उसकी ओर से कन्यादान करने का वचन देकर उसकी पुण्याभिलाषा पूरी की।

यह कथा पुराने सामन्ती जमाने के प्रायः हर गाँव के काम-पिशाच की दिनचर्या (किं वा रात्रिचर्या) का सम्यग् निदर्शन कराती है। साथ ही, 'कामातुराणां न भयं न लज्जा' सूक्ति का सोदाहरण व्याख्यान भी प्रस्तुत करती है। काम अन्धा हो जाता है और सारी मर्यादाओं को क्षणमात्र में अनायास ही तोड़ देता है। इस कथा में मानव मनोविज्ञान की भी झलक मिलती है। न जाने कितने दामोदर और कितनी हिरना आज भी समाज को दूषित कर रहे हैं। घटनाओं का वर्णन स्वाभाविक होते हुए भी कथा में किञ्चित् अश्लीलता की छाया से इनकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार, यशस्वी साहित्यकार 'अभिराज' प्रो० राजेन्द्र मिश्र की किहिनी की हुँकारी सम्पन्न होती है। बात झुट्ठी होते हुए भी किहिनी बहुत ही मिट्ठी है। कथाओं की भाषा निरवद्य है। पदशय्या की चारुता अनुपम है। वाक्य-संरचना में स्वाभाविक प्रवाह है और यत्र-तत्र देशज तथा आधुनिक भाषाओं के शब्दों की सुन्दर पच्चीकारी की गयी है। प्रो० मिश्र बेजोड़ कहानीकार हैं। इसीलिए उनका कथाशिल्प भी अनूठा है। निश्चय ही 'छिन्नमस्ता' की कथाएँ वाग्देवता का कण्ठहार बनेंगी।

।। इति शम् ।।

१०.०५.२०१०
म०गा० काशी विद्यापीठ, वाराणसी

-प्रो० प्रभुनाथ द्विवेदी
आचार्य एवं अध्यक्ष (संस्कृत)

नान्दीवाक्

छिन्नमस्ता मेरा (इक्षुगन्धा, राङ्गडा तथा पुनर्नवा के अनन्तर) चौथा कथानिका-संग्रह है। इन्हीं कथानिकाओं की मध्यावधि में चित्रपर्णी का भी प्रकाशन हुआ जिसमें ६१ लघुकथाएँ मात्र हैं। कान्तारकथा एवं अभिनवपञ्चतन्त्रम् भी इसी खेमे की रचनायें हैं परन्तु उनकी प्रकृति साम्प्रतिक कथानिका से थोड़ी भिन्न है।

छिन्नमस्ता की कहानियों का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यही है कि ये 'बाजार' की नहीं, अपने खेत की हैं। आपको यह जान कर सुखद आश्चर्य होगा कि इस संग्रह की मात्र दो कहानियों (मातुर्निमित्तम् तथा वाडवाग्निः) को छोड़, शेष सात जीवित-स्रोतों से ली गई हैं। उन कथाओं का कोई न कोई पात्र आज भी हमारे बीच में है। परन्तु जिस साहित्यिक एवं शैल्पिक गरिमा के साथ मैंने उन्हें कथानिका में चित्रित किया है, वह विलक्षण है। यदि वे पात्र स्वयमेव इन कहानियों को पढ़ें तो अपने ही व्यक्तित्व को ढूँढ एवं पहचान कर आत्ममुग्ध हो उठेंगे।

मिट्टी तो बस मिट्टी होती है। उसे रूप देना, उस रूप को विस्मय की सीमा तक सँवारना तथा महार्घ बनाना स्वप्नदर्शी कुलाल (कुम्हार) का कार्य है। ठीक इसी प्रकार, कथाकार भी चिर-परिचित कथापात्रों एवं वृत्तों को सीधे नहीं उठाता। वह उसे उसके आनुषङ्गिक आभामण्डल के साथ उठाता है। फलतः अपने सम्पूर्ण परिवेष, रूपशिल्प के साथ वे पात्र भी लोकोत्तर प्रतीत होने लगते हैं।

स आसीन्मम तातपादः की एक प्रकाशित समीक्षा में डॉ० रूपनारायण पाण्डेय ने कथानायक अन्धे भिक्षुक के साथ (कथालेखक) मेरे सम्बन्ध पर टिप्पणी की है। वह टिप्पणी जायज़ है कि वह भिखारी मेरा, सामाजिक रूप से, पिता नहीं था। नर्तकी (पुनर्नवा में संकलित) की नायिका कामिनी क़मरजहाँ (मूलतः ब्राह्मणकन्या कामना जिसका लालन-पालन नर्तकी हुस्नाबाई ने किया था) से भी कथाकार (मैने) ने विवाह नहीं किया था। समीक्षक यह क्यों भूल जाते हैं कि काव्य, कथा और नाट्य का संसार, प्रकृत संसार से भिन्न होता है। साहित्य-सर्जना मे यदि आप जाने-पहचाने पात्रों को, उनके ठेठ हुलिये के साथ खोजने लगेंगे तो उद्भ्रान्त हो जायेंगे। उन्हें, मूल रूप में, पायेंगे भी नहीं। वस्तुतः साहित्य-सर्जना में रूपान्तरित लोक-पात्रों में, उनका कलेवर नहीं, प्रत्युत उनकी संवेदना खोजनी चाहिये। रचनाकार किसी भी पात्र का कलेवर चाहे जितना बदल दे, उनकी 'आत्मा' कभी नहीं बदलता। नारद, विभीषण, हनूमान्, भरत, कैकयी, मन्थरा, मारीच, शकुनि, कर्ण-ये जहाँ भी रहेंगे, अपनी मूल संवेदना के साथ ही रहेंगे। प्रान्त-प्रान्त में भाषाएँ बदलती हैं, रचनाकार बदलते हैं, रचनाविधायें भी भिन्न होती है-परन्तु इन पात्रों की संवेदनात्मक प्रस्तुति सर्वत्र समान होती है।

कथाशिल्प का रहस्य कथाकार ही जानता है, पाठक नहीं। पाठक तो बस, उस शिल्प का आनन्द लेता है। एक सामान्य सी घटना 'कथानिका' कैसे बन सकती है अथवा बनाई जा सकती है? यह कौशल भी कथाकार के ही बूते का है। शीर्षकथा 'छिन्नमस्ता' में मैने अपने गाँव की तीन पीढ़ियों के पात्रों को एक ही धागे में गूँथ दिया है। स आसीन्मम तातपादः में भी जब कथाकार बी०ए०, एम्०ए० का छात्र था तब ताराचन्द छात्रावास बना ही नहीं था। प्रीतिदर्पणः में संकेतित कोई भी संगणक-केन्द्र मेरे वर्तमान आवास (८ बाघम्बरी रोड, इलाहाबाद) के पास नहीं है। ये सब समाज के सत्य नहीं, प्रत्युत साहित्य के सत्य हैं। ये सारे सत्य कविप्रतिभा के प्रसवमात्र होते हैं।

मेरी मोती बुआ अभी भी जीवित हैं। अब वह जरा-जर्जर हैं। मैने उनका यौवनोद्दीप्त रूप-सौन्दर्य बालनेत्रों से देखा था। उसी स्मृति के बल पर, अपनी सौन्दर्यचेतना (Aesthetic Sense) को परिष्कृत कर मैने उनका व्यक्तित्व आँका है। मोती बुआ को मैने, देवमन्दिर की अगुरुवर्तिका के समान तिल-तिल कर राख होते हुए देखा है। जीवन भर वह सबकी रहीं, परन्तु उनका कोई नहीं हुआ। वे भी, जो उनसे चिराय उपकृत थे।

अपनी मँझली दादी के बारे में क्या कहूँ? वह साक्षात् अन्नपूर्णा थीं। वह नारी-स्वाभिमान का मूर्तरूप थीं, वात्सल्य की गंगोत्री एवं कलाओं की प्रसवभूमि थीं। माँ बताती थी कि दादी के घर में आने से ही, परिवार मे 'चमक' आई थी। उन्होंने समूचे कुटुम्ब को, बाहर-भीतर से सुसंस्कृत एवं देदीप्यमान बना दिया था। वस्तुतः मध्यमाज्जुका एवं पितृष्वसा को मैने रेखाचित्र एवं संस्मरण की समन्वित भावभूमि में लिखा है।

अर्वाचीन संस्कृत कथासाहित्य के बहुश्रुत शिल्पी, श्रेष्ठ रचनाकार प्रो० प्रभुनाथ द्विवेदी (अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, महात्मा गान्धी काशी-विद्यापीठ, वाराणसी) ने प्रकाशन से पूर्व ही छिन्नमस्ता की कहानियों को पढ़ा है, मेरे आत्मीय आग्रह पर। छिन्नमस्ता आचार्य द्विवेदी की समीक्षा के साथ प्रकाशित हो रही है, यह मेरा सौभाग्य है। आचार्य एवं रचनाकार होने के साथ ही साथ द्विवेदी जी मेरे स्निग्ध अनुज भी हैं। मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

बुद्ध-पूर्णिमा
२७ मई २०१० ई०

अभिराज राजेन्द्रमिश्र
इलाहाबाद

•

कथानिकाक्रमः

- कथाकथ्य : मनस्तथ्य ५-१४
- नान्दीवाक् १५-१६
- कथानिकाक्रमः : १९-१००
  - –स आसीन्मम तातपादः २१-३१
  - –प्रीतिदर्पणः ३२-३८
  - –मध्यमाज्जुका ३९-५१
  - –छिन्नमस्ता ५२-६४
  - –प्रायश्चित्तम् ६५-७०
  - –मातुर्निमित्तम् ७१-७७
  - –वाडवाग्निः ७८-८४
  - –पितृष्वसा ८५-९२
  - –कन्यादानम् ९३-१००
- परिशिष्ट-एक : सुभाषितानुक्रमणिका १०१-१०३
- परिशिष्ट-दो : विशिष्टशब्दानुक्रमणिका १०४-१०५
- परिशिष्ट-तीन : अभिराज-साहित्य १०६-१११

•

समर्पण

यह कथासंग्रह श्रद्धापूर्वक समर्पित है
अपने परिवार की
चार महिमान्वित नारीमूर्तियों को

मँझली दादी
स्वर्गीय देवकुमारी मिश्र

जन्मदात्री
स्वर्गीया अभिराजीदेवी मिश्र

पितृव्यपत्नी (अन्नपूर्णा)
स्वर्गीया फूलवतीदेवी मिश्र

एवं शैशवसंरक्षिका
मोती बुआ को

भवतीनामयं तुष्टिं श्राद्धपिण्डैर्नु वाचिकैः।
भक्त्याऽभिराजराजेन्द्रः कुरुते क्रोडलालितः।।

-मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः
(पौत्रः पुत्रोऽथ भ्रातृव्यः)

छिन्नमस्ता

।। अभिनवाऽभिराजसंस्कृतकथानिकासङ्कलना ।।

स आसीन्मम तातपादः

इलाहाबादनगरस्य दारागञ्जश्मशानघट्टे तस्य शवो दह्यमान आसीत्। ममाऽनुगतानां कार्यालयीयाऽधीनस्थकर्मचारिणामन्येषाञ्च परिचितमित्राणां विशालसमवायो मया सहैव तत्र स्थित आसीत्। विचित्रैवाऽसीदुभयोः स्थितिः ममापि च, सम्मर्दस्य चापि।

शवोऽयं न मम पितुः पितृव्यस्य, कुटुम्बिनो, ज्ञातिजनस्य वाऽऽसीत्। इति निपुणं जानन्त एव तत्रस्था जना न मां तथा सान्त्वयितुमुद्यता आसन् यथा ते दिवङ्गते सति कस्मिन्नपि ममात्मीयेऽभविष्यन्। तथापि मया क्रियमाणायामस्यामन्त्येष्ट्यां, यस्य कस्यापि वा, ते सर्वेऽपि सम्मिलिता आसन्।

सर्वेषामेव मुखमण्डलं निर्लेखकर्गजपर्णमिव प्रत्यभासत। सर्वेषामेव नयनयोः प्रश्नाः प्लवन्त इव पर्यलक्ष्यन्त। तत्सर्वमहं न ज्ञातवान् इति न। तथाप्यनवसरवशाद् वयं सर्वेऽपि मौनमेवाश्रित्य स्थिताः। एवं सत्यपि केचित् केषाञ्चित् कर्णेषु किञ्चिदुद्वमन्त आसन्। तदहं सम्यक्तया ज्ञातवान्। वस्तुतो यद्रहस्यं ते मां निवेदयितुमैच्छन्, तथा कर्तुमशक्ताः सन्तस्तदेव तेषां सहस्थानां कर्णेषु विन्यस्यन्तिस्म। परन्तु तावताऽपि तेषामुत्कण्ठाप्रशमनं न जातमित्यहं तर्कितवान्। यतो हि महतादरभावेन दाह्यमानोऽयं जनः मया सह केन सम्बन्धेन सम्बद्ध आसीदित्यहं स्वयं न ज्ञातवान्। का कथा पुनरपरेषाम्?

अन्त्येष्टिः सम्पन्ना। मृताऽत्मने, मया मत्सहचरैश्च समवेतैः श्रद्धाञ्जलयोऽर्पिताः। भागीरथ्या जलेन शवदाहभूमिं शीतलीकृत्य वयं सर्वेऽपि स्वगेहान् उपावृत्ताः। मार्गेऽपि, पदातय एवाऽग्रेसरन्तो वयं स्वमौनव्रतं सम्यक्तया निर्व्यूढवन्तः। ततश्च गृहमासाद्य, पूर्वत एव स्थापितं तत्रत्यमग्निमुपस्पृश्य निम्बपर्णञ्च दन्तैरीषन्निकृत्य सर्वेऽपि सहयायिनः स्वगृहं प्रस्थिताः।

अहमप्येकादशदिनानि यावत् मृतकाऽशौचं निर्वहन्, सायं प्रातः गङ्गातटं गत्वा तस्मै प्रेतात्मने जलाञ्जलिं दत्वा, पिप्पलतरुशाखावलम्बितं घटं जलेनाऽपूर्य पक्वश्यामाकचूर्णनिर्मितं पिण्डं प्रदाय धूपदीपादिकञ्च प्रदर्श्यान्ते साञ्जलिपुटप्रणामं क्षमायाचनञ्च कृत्वा गृहमागच्छम्। सकृदेव सायंकाले स्वहस्तनिर्मितं स्वादु भोजनं कृतवान्। कदाचित् घृतशर्कराप्रचुरं पायसं, कदाचित् पूरिकाशाकं, कदाचिन्माषराजमाषमिश्रितं कृशरं, कदाचिदापणादानीतं रसगोलकजातं, कदाचिच्च सक्तुगर्भां शष्कुलीं वृन्ताकालुक-चौक्षसहितामशित्वा परमां प्रीतिमुपगतोऽहम्। यावदेव स्वादु भोजनं भक्ष्यते तावदेव परितुष्टिर्जायते प्रेतात्मन इति कुलवृद्धा मां समुपादिशन्।

ततश्च दशमे दिने दशगात्रकर्म सम्पन्नम्। महापात्रः पिण्डदानादिकार्यं सम्पाद्य शाखालम्बितघटं स्फोटितवान्। गृहसदस्याश्च सर्वे शिरोमुण्डनं कारितवन्तः। मृतकाशौचमद्य परिसमाप्तम्। मम पृथग्भोजनमप्यवसितम्।

अन्येद्यु: श्राद्धकर्म प्रारब्धम्। तदासीन्निखिलदिवसव्यापि। श्वेतवस्त्राच्छादिते शरपत्रच्छदियुक्ते विस्तृतमण्डपे सर्वमपि कार्यं धर्मानुष्ठानञ्च सम्पन्नं जातम्। पार्श्ववर्तिन्यां वैतरण्यां सवत्सां धेनुं संस्थाप्य मया सा सरिदुत्तीर्णा। सपिण्डीकरणाऽनन्तरं महापात्रं वैकुण्ठमण्डपे समुपवेश्य यथाशक्ति प्रदत्तदक्षिणाभिस्तं प्रसादभावमापाद्य आत्मानं कृतकृत्यं धन्यधन्यं तातपादादनृणञ्चाऽहं कृतवान्। त्रयोदशे दिवसे ब्राह्मणभोजनाख्य: सामाजिक: कश्चिदुपक्रमोऽपि पूर्तिमभजत्। वस्तुतो ब्रह्मभोजेन सहैव सर्वमपि गृहवातावरणं सामान्यं जायते।

स आसीन्मम तातपाद:!

परन्तु ममाऽनेन कथनेन को लाभ:? यतो हि ममाऽस्मिन्नङ्गीकारेऽप्यासन् अनेके प्रत्यवाया:। यदि नामाऽसौ मम तातपाद एवाऽसीत् तर्हि कथं न मया सह ममाऽवासेऽवसत्? कथं न मया सहैवाऽभुङ्क्त? इत: प्राक् क्वासीदसौ? न मया कदाप्यसौ मध्येमित्रमण्डलं चर्चित: परिचायितो वा! सर्वेऽपि नागरिका मां पितृविहीनं कुटुम्बिजनविरहितमेव परिचिन्वन्ति। आत्रिंशद्वर्षेभ्यो नगरेऽस्मिन् एकल एव स्थितोऽस्मि। विवाहानन्तरमेव पुत्रकलत्रतृतीयोऽस्मि सञ्जात:।

इत्यपि सर्वे चिन्तयन्तिस्म यत्को नु जन्मदाता पिता मत्सदृशस्य श्रेष्ठाधिकारिपद-प्रतिष्ठितस्य विद्याविनयसम्पन्नस्य पुत्रस्य गर्वं नोद्वहति? यदि पुनर्दिवङ्गतोऽसौ जन: परमार्थत एवाऽसीन्मम जन्मदाता पिता तत्कथं नु मत्त: पृथगवस्थातुमशकत्? नासीदसावसाध्यरोगजर्जरो, न वा विरक्त: संन्यासी, न चापि मया परित्यक्तो बहिष्कृतो वा? तत्कथमासीदसौ मम तातपाद:?

प्रश्नमिमं समाधातुमेव पाठकानतीतेऽनेहसि नयामि।

द्वादशकक्षां प्रथमश्रेण्यां समुत्तीर्य शिक्षाग्रहणार्थं प्रयागमागत आसम्। ग्रामटिकामृत्तिकायां समुत्पन्नस्तावता कालेन इलाहाबादनगरमपि सम्यक्तया न ज्ञातवान्। परन्तु ममैव ग्रामस्य निवासी श्रीपाल: प्रयागनगरे रिक्शायानं चालयति स्म। अन्त्यजकुलोत्पन्नोऽसौ मया सहैव पञ्चमीं कक्षां यावत् शिक्षामग्रहीत्। पश्चादसौ गृहदैन्यवशात् पठितुं नाशकत्। परन्तु सहाध्ययनकाले मयि नितरामसौ स्निग्ध आसीत्। ततश्चासौ कुटुम्बपोषणार्थं किञ्चिदर्जितुं निजावुत्तेन सार्धमिलाहाबादनगरमुपागमत्। विगतसप्तवर्षेभ्योऽसौ तत्रैवाऽसीत्।

यदाऽसौ मां प्रथमश्रेण्यामुत्तीर्णं श्रुतवान् तदा स्वहर्षं प्रकटयितुं मामपश्यत्। चिरकालानन्तरमावयो: सङ्गमो जात:। स कदाचिदेव ग्राममागच्छतिस्म। आगतोऽप्यसौ प्रायेण स्ववसतावेव निरुद्ध आसीत्। यावदहं तमागतं शृणोमि, तञ्च मिलितुं निश्चिनोमि तावदसौ प्रयागं प्रतिष्ठितोऽश्रूयत। विचित्रैवाऽसीदावयो: स्थिति:।

परन्तु सम्प्रत्यावां सम्मुखीनौ जातौ। स मां महतोत्साहेन हर्षेण च वर्धापितवान्। भूयोऽप्यवदत्।

–बन्धो ! ग्रामेऽस्मिन् रत्नकल्पोऽसि। कुलं ग्रामःक्षेत्रं जनपदः सर्वेऽपि भवता सदर्थिताः। भवत्सहपाठित्वेनाऽहमपि धन्यो जातः। मातृपितृसुखवञ्चितोऽपि समाजैकशरणो भवान् यथा शिक्षां गृहीतवान् तन्निदर्शनभूतमन्येषां कृते।

सम्प्रति क्व पठितुमभिलषति भवान्?

–श्रीपाल ! पार्श्ववर्तिनि महाविद्यालय एव गन्तुमिच्छामि !

–बदलापुरस्थे प्रतापगञ्जस्थे वा? श्रीपालोऽपृच्छत्।

–यत्र कुत्रापि सरलतयाऽर्थसाहाय्यमुपलभ्येत। सर्वमेव जानाति भवान्। भोजनस्यापि सम्यक् प्रबन्धो न वर्तते। अतएव नगरस्थे विद्यालये क्वचिद गन्तुं क्व मे शक्तिः? मया भणितम्।

–भ्रातः ! स्वर्णकुद्दालो दर्शनाय भवति न पुनर्धरित्रीखननाय। यद्यल्पशिक्षितोऽहम् इलाहाबादनगरमुपगन्तुं समर्थोऽभूवं तर्हि कथं न भवान् तत्रस्थे विश्वविश्रुतविश्वविद्यालये शिक्षां ग्रहीतुं समर्थः? सोऽपि मयि तत्र विद्यमाने?

–श्रीपाल ! बन्धो ! तव स्नेह एवं भाषते। जानामि भवदीयं हृदयम्। तथापि नगरनिवासव्ययो न मया सोढुं शक्यते। यद्यपि सुनिश्चितमिदं यत् छात्रवृत्तिर्मयोपलप्स्यते, तथापि प्रारम्भे तु सर्वतोभावि कृच्छ्रमेव समवलोक्यते। न मम भालपट्टेऽङ्कितः प्रयागविश्वविद्यालयः।

–साधूक्तं भवता। नाऽङ्कितो भवद्भालपट्टे प्रयागविश्वविद्यालयः। तत्कार्यमहं करिष्यामि। साट्टहासमवादीत् श्रीपालः।

बन्धो ! जानात्येव भवान् यन्मूर्तिकारा न भवन्ति भगवन्माहात्म्यविशारदाः। शिलालेखटाङ्किका न भवन्ति पण्डिताः श्लोकार्थवेत्तारः। कविप्रणीतं पद्यजातं जयघोषणादिकं दर्शं दर्शमेव सयत्नं तत्सर्वमुट्टङ्कयन्ति।

एवमेव भवद्बालमित्रमहमपि पञ्चमकक्षोत्तीर्णो भवद्भविष्यमजानन्नपि भवद्भालपट्टे प्रयागविश्वविद्यालयं लिखामि।

पश्य बन्धो ! इलाहाबादनगरोपकण्ठस्थिते गडरियापुरनाम्नि ग्रामे वयं प्रायेण विंशतिमिता रिक्शाचालका निवसामः। कस्यचिदाभीरस्य तद् गृहम्। तत्रैवाऽस्माभिः सह भवानपि कोणे कस्मिंश्चित् निवसतु। स्वकीयं भोजनं स्वयमेव पचतु। यथाऽहमात्मनः कृते गोधूमचूर्ण–द्विदल–तैल–लवण–शाकादिकस्य प्रबन्धं करोमि तथैव भवतोऽपि प्रबन्धं विधास्ये !

बन्धो महेश्वर ! पण्डितकुलोत्पन्नोऽसि। अत्र ग्रामटिकाविद्यालये न ते प्रतिभा विकासमवाप्स्यति। पामराणां सङ्गतौ क्व परिष्कारः? परन्तु तत्र प्रयागे सुरुचिसम्पन्नानां साहचर्ये भवज्जीवनं देदीप्यमानं भविष्यति।

–तदलं विचार्य। मया सहैव प्रस्थातव्यम्। शापितोऽसि भवान् आवयोः सौहृदेन। अस्मिन् विषये न केनापि सह काऽपि मन्त्रणा कार्या, न वा साहाय्यं ग्राह्यम्। अहमस्मि भवता सहैव!

इति श्रुत्वैवाऽहं श्रीपालं सप्रणयमाकृष्य सपरीरम्भं क्रोडे कृतवान्। दिनद्वयानन्तरमेवाऽहं श्रीपालेन सार्धमिलाहाबादमागतवान्। यथाऽऽख्यातमासीत् श्रीपालेन तत्सत्यमासीत्। विविधजात्युत्पन्नाः सर्वेऽपि रिक्शाचालका बन्धुत्वरज्जुनिबद्धा महता प्रेम्णा तत्राऽभीरगृहे निवसन्तिस्म। केचन दिवाकाले, केचिच्च रात्रौ रिक्शां चालयन्ति स्म। केषाञ्चित् समवेतभोजनव्यवस्थाऽसीत्। कश्चिच्चैकल एव पचति स्म। प्रायेण सर्वेऽपि प्रतिवेशिग्रामवासिनो मिथः परिचिता आसन्। तेषु द्वित्रा निर्धनब्राह्मणकुलोत्पन्ना युवानोऽप्यासन्।

श्रीपालः सविशेषं निवेद्य, तैः साकमेव ममापि भोजनप्रबन्धं कृतवान्। सर्वमिदानीं सम्पन्नं जातम्। परिचये घनीभूते, प्रीतिरपि प्रगाढात् प्रगाढतरा जाता। सर्वेऽपि रिक्शाचालका मय्यतितरां स्निह्यन्तिस्म। यः कोपि विश्वविद्यालयदिशि आगच्छन् मामपि सप्रणयं सनिर्बन्धं निर्भाटकमानयतिस्म। सायंकालेऽपि प्रायेण नगरादावासमुपावर्तमानः पथि मिलितः कोऽपि मां गडरियापुरं यावदानयतिस्म।

मम भाग्यद्वारमपावृतमासीदिदानीम्। श्रीपालकृपया सम्प्रत्यहं प्राच्यकेम्ब्रिजपदवाच्ये इलाहाबादविश्वविद्यालये प्रविष्टो जातः। संस्कृतेतिहासाङ्गलभाषाश्चेति त्रयो मम पाठ्य-विषया आसन्।

कतिपयमासानन्तरमेव छात्रवृत्तिरप्यवाप्ता। छात्रावासे कश्चित्कक्षोऽपि मह्यमावण्टितः। सजलनयनस्सन् सर्वान् रिक्शाचालकानकारणबन्धून् प्रणम्य, श्रीपालञ्च भूयोभूयः प्रचुम्ब्य, समालिङ्ग्याहं छात्रावासमागतवान्।

ताराचन्दछात्रावासात् नाऽतिदूर आसीद्विश्वविद्यालयः। अतएवाऽहं पदातिरेव प्रायेण सार्धनववादने कक्षान्निष्क्रम्य कोषागार-(बैङ्क) मार्गेणासाद्य पक्षद्वारदिशात एव विश्वविद्यालयमागतवान्। एवङ्करणे पञ्चदशनिमेषा एवाऽपेक्ष्यन्ते स्म।

कस्मिंश्चिद् दिने मम दृष्टिः क्वचित् केन्द्रिता जाता। अयमासीत्कश्चिदन्धो भिक्षुकः। स खलु कोषागारमार्गस्थ एव कस्मिंश्चिद् वटवृक्षाधःस्थले स्थितः 'रामः रामः रामः राम' इतिमात्रं रटन् परिलक्ष्यते स्म। न कोऽपि याच्ञाशब्दः, न वा किमपि निवेदनम्। न केनापि सह वार्ता। न चापि रामशब्दोच्चारणक्रमे कापि त्रुटिः, भङ्गोऽवरोधो वा। सर्वथा निरपेक्षभावेन रामस्मरणं कुर्वन्नसौ महान् तपस्वी प्रतीयतेस्म।

प्रथमदृष्टौ न मे किमप्यधिकमाकर्षणं जातम्। दशपणकानां मुद्रां कामपि तस्मै दत्वाऽहं विश्वविद्यालयं गतवान्। एवमेव कदाचित्किमपि दत्वा, कदाचिदत्वा, कदाचिदुत्तरमनपेक्ष्यापि स्वप्रणामं निवेद्य, कदाचिच्च कतिपयनिमेषान् यावत्तस्य रामस्मरणमुद्रामात्रं सश्रद्धमवेक्ष्याऽहं गतागतानि समपादयम्।

स खलु धूसरप्रच्छदं स्वकीयमास्तीर्योपविशतिस्म। पार्श्व एव तस्य लघ्वी वंशयष्टिः समुद्गकश्चेति द्वयं दृश्यते स्म। कदाऽयमायाति, कुत आयाति, सायंकाले कुत्र गच्छति, रामस्मरणमध्यावधौ कदा मेहननिमित्तमुत्तिष्ठति, कदा वा जलं पिबति किञ्चिदश्नाति वा इत्येते प्रश्ना ममान्तरालोपवने झञ्झामिव समुत्थापितवन्तः। स खलु निरन्तरमेव करतलद्वयं भूमौ संस्थाप्य, कायं प्रणिधाय, स्मितानन्स्सन् रामनामस्मरणं कृतवान्।

विचित्र एवाऽसीदसौ भिक्षुकः। शतावधानः प्रतीयते स्म। काचिन्महिला तस्मै पायसं प्रयच्छन्ती कथयतिस्म–साधो! अद्य मम गृहे पुत्रजन्मोत्सव आसीत्। भवत्कृते पायसमानीतं मया। एतदिदं भवत्समुद्गके स्थाप्यते। अवसरमवाप्य भुञ्जीथाः। तत्सर्वमाकर्ण्याप्यसौ स्मितकमात्रं प्रकटितवान्, स्वरामनामस्मरणं न जातु स्थगयति स्म। एवमेव नित्यायायिनः केचन परिचयवशात् निमेषमात्रं स्थित्वा तस्य कुशलमनामयं पृष्ट्वैवाग्रेसरन्ति स्म।

स खलु सर्वेषां वचनानि, प्रस्तावानश्रृणोत्। कदाचिद् द्वित्राणां पञ्चषाणां वा वार्ता एकैकशोऽश्रृणोत्, सम्भूय वाऽश्रृणोत्। परन्तु समेषां प्रियजनानां कृते तदुत्तरमेकमेवाऽसीत् लघुस्मितकमात्रं रामनामसहकृतम्। इयमेवाऽसीत्तस्य शतावधानता। अयमेवाऽसीत्तस्य समाधिर्योगो वा। कूर्मोऽङ्गानीव सर्वान् बाह्यविषयान् सर्वश आत्मनि संहृत्य रामनाम्नि स्थितोऽसौ प्रकृत्यैव स्थितप्रज्ञः प्रतीयते स्म।

मम पदगतिमेव प्रत्यभिज्ञायाऽसौ मुखमुद्यम्य स्मितं प्रकटयतिस्म। यथा नु पृच्छत्येव माम्–वत्स! विश्वविद्यालयं गच्छसि? अपि सर्वं कुशलम्? अध्ययनं सम्यक्तया प्रवर्तते? काऽपि समस्या बाधते किम्?

एते प्रश्नास्तेनाऽपृष्टाः सन्तोऽपि पृष्टा एव प्रतिभान्तिस्म। अहमपि कल्पितमात्रं तदीयं वात्सल्यसमुदाचारमनुभूय प्रत्यङ्गं प्रहृष्ट इव सञ्जातः।

शनैः शनैः ममासक्तिस्तस्मिन् प्रगाढा सञ्जाता। इयमासीन्मदीया भक्तिर्वा निष्ठा वा? जिज्ञासा वा समुत्कण्ठा वा? कुतूहलोपशान्तिप्रयत्नो वा तद्रहस्याधिगमप्रयासो वा? एतत्सर्वं नाऽहं वेद। तथापि लौहखण्डमिव चुम्बकस्य तस्याकर्षणं मां प्रसह्याऽचकर्ष बबन्ध च।

ततश्च कस्मिंश्चिद् दिनेऽहं सान्ध्यकाले तमुपगतः। अद्य मया संकल्पितमासीत् यद्रामनामस्मरणावसान एव तं द्रक्ष्यामि। सान्ध्यविद्युद्दीपा राजमार्गेषु गृहेषु चापि सन्दीप्ता आसन्। स खलु साञ्जलिपुटप्रणामं भगवन्तं प्रणम्य नामजपं परिसमाप्य प्रच्छदविकीर्णाः दशपणक–विंशतिपणक–पञ्चाशत्पणकमुद्रा अन्विष्याऽन्विष्य संहर्तुं प्रायतत। तावदेव पार्श्वमुपेत्य नमस्कृतं मया।

–अये वत्स! इयति सान्ध्यकाले उपावर्तसे? अपि सर्वं कुशलम्?

–तात! भवद्वचनं श्रोतुं कातरीभूता मे प्राणाः। षण्मासा व्यतीताः। न ते वाणी

मया श्रुता। केवलं स्मितकेनोत्तरमाशीर्वादं वा प्रयच्छसि। नाऽहं भवन्तं रामनामस्मरणारम्भात् प्राक् न चाप्यनन्तरं दृष्टवान्। ततोऽद्य सर्वमपि कार्यजातं हित्वा, भीष्मप्रतिज्ञाञ्च कृत्वा समायातोऽस्मि। अद्य भवता सहैव भवदावासं गमिष्यामि! मयोक्तम्।

तदुपश्रुत्य भिक्षुकोऽसौ निर्भरं हसितुमारब्धवान्। तं तथा प्रहसन्तमवेक्ष्य सोत्कण्ठमहं पृष्टवान्–कस्मादेव प्रहसति भवान्?

–प्रहसामि यत्त्वमद्य मम गृहं गन्तुमिच्छसि। वत्स! श्वापदस्येव न मम किमपि गृहम्। यत्र कुत्रापि भूविवरमवाप्नोमि तत्रैव निर्भरं स्वपिमि। भगवत्या गङ्गायास्तटमेव मम गृहं जीवनयापनक्षेत्रञ्च। तत्र गत्वापि किं करिष्यसि?

–भवदीयं भिक्षान्नपिटकं वहन् भवता सह वार्तां करिष्ये?

–कियन्ति दिनानि यावत्?

–यावदत्र इलाहाबादनगरे स्थितोऽस्मि। यावच्च भवान् जीवति!

–वत्स! मैवम्। किमिदं भणसि? वहतो नीरस्य रममाणस्य योगिनो वा न कोऽपि निश्चितो मार्गः, न कापि नियता दिशा। त्वमसि नवयुवा, अहमस्मि वृद्धः। किन्नु साम्यमावयोरवस्थयोः? चिरञ्जीव शतञ्जीव इत्येव कामयेऽहम्।

वत्स! यन्निमित्तमागतोऽसि तदेव पूरय। शिक्षामवाप्य वृत्तिञ्चोपलभ्य सुखय स्वपितरौ कुटुम्बिनश्च। गच्छेदानीम्। सोऽवदत्!

–तात! नाहमद्य भवन्तं त्यक्ष्यामि। भवता सहैव गङ्गातटं यावत् चलिष्यामि।

इति कथयित्वैवाऽहमन्धभिक्षुकस्य वंशयष्टिकां तद्धस्ते दत्वा, तत्समुद्गकं च वामस्कन्धेनाऽवलम्ब्य तेन सह प्रस्थितः। चिरपरिचिते मार्गेऽसौ तथा निर्भयमग्रेऽसरत् यथा दृष्टिसम्पन्नः स्यात्। अर्धहोरानन्तरमेव तेन साकमहं गङ्गापुलिनं यावदागतवान्। स खलु मां दारागञ्जोपनगरसमीपस्थे सघनलतावृक्षनिचिते कस्मिंश्चित् कुटीरे समानयत्। इदं कुटीरं बन्धमार्गं निकषैवाऽसीत्। पार्श्व एव केचनाभीरा निवसन्तिस्म महिषीदुग्ध-व्यापारसंलग्नाः। अतएव तत्र पेयजलादिव्यवस्थाऽप्युपलब्धाऽऽसीत्। इतो गङ्गातटं नातिदूरस्थमासीत्। इदमेवाऽऽसीद् भिक्षुकस्य तस्य निवासमन्दिरम्।

चिरं यावदहं तत्रैव स्थित आसम्। बन्धमार्गस्योपरिभागे केनचित् साधुना देवस्थानं निर्मापितमासीत्। दर्शनार्थिनां सम्मर्दः प्रातस्सन्ध्यायाञ्च तत्र दृश्यतेस्म। तत्रैव चायपानादिकस्यापि व्यवस्थाऽऽसीत्। आगच्छतैव मया तत्सर्वं निपुणमवलोकितम्। अतएव वार्तामध्य एव तात! सम्प्रत्येवाऽगच्छामीत्युक्त्वाऽहं बन्धमार्गोपरि गतवान् मल्लकद्वये चात्युष्णचायपेयं निधाय समागतः।

–तात! चायं गृहाण?

–बाढं बाढम्! सम्यग् ज्ञातम्। मया चिन्तितं यन्मेहनार्थं गतोऽसि! इदानीं ज्ञायते यच्चायपेयमानेतुं गतवानासीः। प्रसन्नतां प्रकटयन्निव सोऽवदत्।

चायं पिबतोरावयोर्वार्ता प्रारब्धा। अहमिव सोऽपि मद्विषये परिज्ञातुं सोत्कण्ठ एवासीत्। आत्मविषये मया किमाख्येयमासीत्? आख्यात्री जननी तु शैशव एव मां विहाय दिवङ्गता। तदाऽहं द्वाशवर्षदेशीय एवाऽसम्। केवलमेतावदेव स्मृतिपथमायाति यन्मम गृहे भग्नावशेषबहुले न किञ्चिदप्यासीत्। प्रबलवर्षाभिर्मृत्तिकानिर्मितं सकलमपि गृहं धराशायि जातम्। खर्परच्छदिनिर्माणाय धनमपेक्ष्यते। तदेव मम मातुः पार्श्वे नासीत्। न हलं, न वृषभौ, न कोपि हलवाहः! कृषिकर्माऽप्यसम्भवमासीत्।

एकस्मिन्नेवाऽवशिष्टे कक्षे जननी मामुत्सङ्गे कृत्वा शेतेस्म। प्रायेणाऽसौ सम्मेलनव्याजेन मामादाय प्रतिवेशिनीनां गृहेषु पर्यटतिस्म। परन्तु तस्याः वास्तविकं लक्ष्यमासीत् क्षुत्क्षामकण्ठस्य मम कृते भोजनप्रबन्धः। काचिद्दयमाना प्रतिवेशिनी स्नेहवशादपृच्छदेव–वत्स! महेश्वर! किञ्चिद्भुक्तं न वा? तच्छ्रुत्वा मयि स्तिमितनयने जाते सत्येव विदितयथार्था सा गृहलक्ष्मीः मामुदरम्भरि भोजयतिस्म। मां भुक्तवन्तं दृष्ट्वैव मम मातुरपि सम्यक्तृप्तिरिव जायते स्म।

सप्तवर्षीयः सन्नहं शिक्षामवाप्तुं क्रोशत्रयदूरस्थे विद्यालये गतवान् आसप्ताहं तत्रैवाऽध्यापकगृहे निवसन् शनिवासरे जननीं द्रष्टुं ग्राममागच्छम्। सप्ताहमध्ये जातु जनन्यपि वात्सल्यवशान्मां द्रष्टुं विद्यालयमागतवती। तदासौ कस्मिंश्चित् पात्रे पक्वं वास्तुकशाकं सर्षपतैललवणसम्मिश्रितं मत्कृते आनयतिस्म। परन्तु रोटिकाया अभावे कथं भक्षणीयः शाकः?

अद्याऽत्मविषयेऽन्धभिक्षुकेण सदयं पृष्टस्सन् तत्सर्वं स्मृतवान्। हन्त! साऽकिञ्चना सत्यपि मत्सर्वस्वभूता जननी करालकालेन प्रसह्य लुण्टिता। द्वादशवर्षदेशीय एवाऽसं यदा ममाम्बा दुर्निवारप्लेगाख्यसङ्क्रामकरोगेणाऽपहृता। तत एवैकलोऽहं जातः। केषाञ्चित् सानुकम्पमहानुभावानां साहाय्येन, कासाञ्चिच्चाऽन्नपूर्णानां जननीनां वात्सल्येन, मृत्योर्वारितस्सन् द्वादशकक्षामुत्तीर्णवानहम्। तत्सर्वं मया यथास्मृति तातपादाय निवेदितम्। कथान्ते च स्वबालमित्रस्यान्त्यजकुलोत्पन्नस्य श्रीपालस्यापि कृपावृत्तं वर्णितम्मया।

ममाख्यानमाकर्ण्यैव भिक्षुकोऽसौ स्फुटितहृदयस्सन् गाढगाढं रोदितुं प्रवृत्तः। किं कर्तव्यविमूढोऽहं जातः। किमपराद्धं मयेति ममाप्यज्ञेयमेवासीत्।

–तात! कथं रोदिति भवान्? ससाध्वसं पृष्टवानहम्।

–न किमपि, न किमपि वत्स! अश्रूणि प्रोञ्छन्या मार्जयन् सोऽवदत्। वत्स महेश्वर! अतीवकरुणा ते जीवनकथा। बहु दुःखं सोढं त्वया! हे राम! हे प्रभो! किमेवं शातयसि निर्दोषान्?

–तात! मर्मनिकृन्तनीं मम व्यथां भवानिदानीमपि न जानाति। तामपि भवते निवेदयिष्ये। निर्भयमवदमहम्।

–काऽसौ वत्स? सविस्मयमन्धभिक्षुः प्रावदत्।

–तात! ग्रामे एतादृशोऽपि लोकापवादो मद्विषये परिव्याप्त आसीद्यत् पितर्युपरते सति, महता विलम्बेनाऽहं मातृगर्भात्समुत्पन्नः। एवंवादिनां जाल्मानां किमुद्देश्यं किं वा विवक्षितमासीदिति भवानपि सम्यक्तया वेत्ति। परन्तु तथ्यमिदं न केनापि प्रत्यक्षमभिहितं न चापि मया प्रत्यक्षं श्रुतम्। तथापि सर्वमिदं श्रुत्वा जबालायां सत्यकामस्य इव ममाप्यास्था जन्मदात्र्यां दृढीभूता।

साधु साधु! चिरञ्जीव वत्स! इत्यसकृद्ब्रुवाणोऽन्धभिक्षुः बाहू प्रसार्य मामुत्सङ्गे समाकुञ्च्य बहुशः प्रचुम्बितवान्। चिरं यावन्न कोऽपि भूयोऽप्याननमुद्घाटितवान्। मामकीं व्यथाकथां निशम्य स भिक्षुवरस्तु करतलद्वयं ललाटस्थले विन्यस्य शान्तशान्तोऽतिष्ठत्। तावदेव मया भणितम्–मन्येऽवसादितो मया भवान्। तत् क्षन्तव्योऽहमस्मि। एतदपराध-भयादेव भवद्विषये नाऽद्य किञ्चित् पृच्छामि।

सम्प्रति गमिष्यामि। अन्यथा भोजनकालेऽतिक्रान्ते सति भोजनालयकक्षोऽर्गलित एव सन्द्रक्ष्यते। भूयोऽप्यागमिष्यामि। इत्युक्त्वा यावदेवाऽहं गन्तुमैच्छं तावदेव तातोचिताऽदेशगिरा मां सम्बोधयन्नसौ भिक्षुरवदत्।

–वत्स! मदिच्छाविरुद्धमेव मय्यासक्तोऽसि जातः। मदिच्छाविरुद्धमेव मया सह मत्कुटीरं यावत्समागतोऽसि। अहमपि तावदीश्वरेच्छां मत्वा सर्वमपि तव प्रस्तावं स्वीकृतवान्। ईश्वरेच्छयैव प्रेरितस्सन् स्वकीये दारुणदुर्घटितप्रचुरे जीवने प्रवेष्टुं त्वामहमनुमतवान्। सर्वथाऽसम्बद्धमपि दृष्टिहीनमिमं भिक्षुकं तातपदेन सम्बोध्य समादृतवानसि। तदिदानीं ताताधिकारेणैव त्वामहमनुशासिष्यामि। ममादेशं स्वीकरिष्यसि न वा? मह्यं वचनं देहि। तातोऽवदत्।

–तात! कोऽयं सन्देहः? त्वत्कृते जीवनमपीदं समर्पितम्। कथं न भवद्वचनं करिष्ये? अहमुक्तवान्।

–साधु, तर्हि समोदं गच्छ। श्वस्तने सान्ध्यकाले भूयोऽपि वार्तां करिष्ये। ततश्च छात्रावासमहमुपावृत्तः। परन्तु मध्येमार्गं चिन्तेयं मां नितरां बाधितवती यत्किमनु शासिष्यति मां तातपादः? किम्मां भूयोऽप्यागन्तुं निषेधिष्यति? उताहो वर्धमानं सम्बन्धमुच्छेत्तुं कथयिष्यति? यद्येवमभूत्तर्हि दत्तपरिपालनवचनः किमहं करिष्ये? कथं नाऽद्यैव सर्वं स्फुटीकृतं मया?

एवं चिन्तयमान एवाऽहं छात्रावासमुपावृत्तः। ततश्चाग्रिमेऽहनि सान्ध्यकाले भूयोऽप्यहं भिक्षुवरेण सार्धं तत्कुटीरमगच्छम्। परन्त्वद्यावयोः साहचर्ये मुखरता नासीत्। अहमपि भीत इवासम्। साधुरपि प्रायेण मौनमेव समाश्रयत्।

अथ मां ह्यस्तनं वृत्तं स्मारयन् भिक्षुकोऽसौ निजाऽत्मकथामश्रावयत्– पार्श्ववर्तिन्येव कस्मिंश्चिद् ग्रामेऽसौ निवसंतिस्म। पापपरायणाः प्रतिवेशिनः धनवैभवोन्मत्ताः तद्गृहस्थाने काञ्चित् कर्मशालां निर्मापयितुमैच्छन्। परन्त्वसौ स्वपितृपितामहानां भवनं भूमिञ्च परित्यक्तुं कथमपि समुद्यतो नासीत्। तत एव ईर्ष्याद्वेषरोषोपहतचेतसस्ते जाल्माः कस्याञ्चिद्रात्रौ तस्य पत्नीं पुत्रञ्च निर्दयं हतवन्तः। तस्यापि गृहपतेर्नयनयोः विषाक्तं क्षाररसं भृतवन्तः।

कुटुम्बविनाशसन्तप्तो विनष्टदृष्टिश्च मासं यावदसौ नेत्रौषधालयेऽवसत्। परन्तु कृतेऽपि बहुश उपचारे नेत्रज्योतिर्न मनागप्यवाप्तम्। स्फुटितनेत्रोऽसौ भूयोऽपि स्वग्रामं नैवोपावर्तत। व्यथितो हताशः सन्तप्तस्सन् सर्वमिदं स्वपूर्वजन्माचरितदुष्कर्मपरिपाकमात्रं मत्वाऽसौ रामनामस्मरणमेव जीवनालम्बनं विधाय प्रयाग एव स्थितो जातः। पुत्रकलत्रहीनोऽधुना कं नु द्रष्टुं ग्रामं गच्छेत्?

रोदनपुरस्सरं कथेयं मया श्रुता। आसीन्मे मनसि–हे परमेश्वर! एवंविधाः पापा अपि मनुष्या एव कथ्यन्ते? आत्महिताय परेषां विनाशः? स्वकर्मशालां निर्मापयितुं परकीयभवनोत्पाटनम्? कुतस्त्योऽयं न्यायः? आः दैव! तातपादानां सर्वानन्दोपन्वितः कुटुम्ब एव क्षयमुपनीतः? क्रोधाऽमर्षवशान्ममान्तराले भूकम्प इव समुत्थः। शोकवेगं यथाकथञ्चिन्नियम्य मयोक्तम्।

–तात! इतोऽग्रे भवच्छातकानां विनाश एव भविष्यति मज्जीवनलक्ष्यम्। तान् पापान् अहमवश्यं न्यायालयकोष्ठागारे स्थापयिष्यामि। सरोषमवदम्।

–न, न। न कदापि। वत्स मैवम्। प्रतिज्ञातं त्वया ह्यस्तनसन्ध्यायाम्। ममानुशासनं स्वीकरिष्यसीति दत्तवचनोऽसि त्वम्। तत्सावधानं शृणु यत्कथयामि। भूयोऽपि नाहं किञ्चिद् भणिष्यामि।

–तात! कथय। एष शृणोम्यहम्।

–महेश्वर! एवं प्रतीयते यथा दिवङ्गतं स्वपुत्रं पुनरपि प्राप्तवानहम्। इतः प्रभृति त्वमेव मत्पुत्रोऽसि। अहमिच्छामि यद्धनाभावस्तवाऽध्ययनमार्गे प्रत्यवायो न भवेत्। अतएव रामनामस्मरणावाप्तदक्षिणाधनराशिं यं कमपि कोषागारे निक्षिप्तवानहं दिवङ्गतपुत्रस्मृतौ मन्दिरं निर्मातुम् तमुपयोजय त्वमात्मकार्येषु।

वत्स! इतोऽग्रेऽहं परमार्थतस्तव तातपाद एव। सम्बन्धमिमं स्वीकरोम्यात्म-धन्यतया। परन्तु नाऽयं सम्बन्धो लोके प्रकाशनीयः। लोकदृष्ट्या तु भिक्षुरेव भविष्याम्यहम्।

महेश्वर! कतिपयवर्षानन्तरमेव स्वाध्ययनं परिसमाप्य किमप्यधिकारिपदमवाप्स्यसि। स्वभवनं निर्मास्यसे। कुटुम्बमपि स्वकीयं कल्पिष्यसि।

परन्तु वत्स! न मां कदाप्यात्मभवने स्थिरमवस्थातुमनुरोत्स्यसि। अहमाजीवनं स्थास्यामि स्वकुटीर एवाऽस्मिन्।

एतदेव ममाऽनुशासनम्। यदि नामैतत्सर्वं तेऽभिमतं स्यात्तर्हि आवयोः पितृपुत्रात्मकस्सम्बन्धोऽक्षुण्णतामुपयाति। अन्यथा इतोऽग्रे न मां तातसम्बोधनेनोद्वेजयिष्यसि, न चापि दुर्भाग्यग्रस्तं मामनुसरिष्यसि!

सम्प्रत्याचक्षस्व। किमुच्यते त्वया?

–तात! भवता तु सर्वं ममापहृतमेव। न किमपि दत्तम्। किमपि दास्यसि न वा? मयोक्तम्।

–दास्यामि, दास्यामि। परन्तु तदेव, तावन्मात्रमेव यन्ममाधिकारे भविष्यति। तातोऽवदत्।

–सम्यगाह भवान्। तद् वस्तुद्वयं याचे यद् वर्तते भवदधिकारे। तात! यदि भवदाशिषाऽध्ययनानन्तरं मया किमपि प्रतिष्ठास्पदं पदमवाप्तं, पदप्राप्त्यनन्तरञ्च यदि निवासभवनं किमपि निर्मापितं तर्हि भवनं तद् भवदीयनाम्नैव ख्यातं भविष्यति।

द्वितीयाऽपि याच्ञा भवदधिकार एव तिष्ठति। शरीरत्यागानन्तरं शवदाहादारभ्य त्रयोदशाहसंस्कारं यावत् सम्पाद्यमानं सर्वमपि पुत्रोचितं धार्मिकं कार्यजातं केवलमहमेव सम्पादयिष्यामि।

स्वीक्रियते भवतैतत् न वा? मयोक्तम्।

–स्वीकृतं स्वीकृतम्। स्मेराननस्सन् वदतिस्म तातः। भूयोऽप्याह–परतु वत्स! केन नाम्ना स्वभवनं ख्यापयिष्यसि? मन्नाम तु न कदापि त्वया पृष्टम्।

–यथाऽवसरं प्रक्ष्यामि। तन्मणिबन्धमाकुञ्च्य कथितवानहम्।

–मा मैवम्। श्वःकरणीयमद्यैव कार्यं धीमता। मन्नामास्ति पुरुषोत्तमपाण्डेयः। अतएव त्वमपि पुरुषोत्तमभवनमेव निर्मापयिष्यसि। रोचते न वा?

स आसीन्मम तातपादः!

सम्प्रति पाठकाः सम्यगवगताः स्युः। तदिच्छां समादृत्यैव न मयाऽवयोः सम्बन्धो मध्येसुहृत्समुदायं मध्येसमाजं वा कदापि प्रकाशितश्चर्चितो वा। सर्वेऽपि मम सखायः परिचिताश्च केवलमेतावन्मात्रं ज्ञातवन्तो यदन्धभिक्षुके तस्मिन् मदीया प्रगाढा भक्तिर्वर्तते तद्दैन्यवशात् तद्विकलाङ्गतावशादेव। इतोऽधिकं न कोऽपि वेद। आन्तरः कोऽपि हेतुरावां व्यतिषजतीति न कोऽपि ज्ञातवान्!

मम भवनस्य नामास्ति–पुरुषोत्तमभवनमिति। परन्तु भवननामकरणरहस्यमपि रहस्यमेव वर्तते। द्वित्रैः सुहृद्भिः पृष्टमपि–भोः कथं न महेश्वरभवनमित्येव समुट्टङ्कितम्।

यथा पुरुषोत्तमो विष्णुस्तथैव महेश्वरोऽपि देवाधिदेवश्शम्भुः। मयोक्तं नर्मणा–किन्न जानाति भवान् यन्महेश्वरोऽपि महान् वैष्णव एव? शिवस्य विष्णुभक्तिस्तु प्रसिद्धा।

तातपादप्रदत्ताधिकारेणैव मया तदौर्ध्वदैहिकं सर्वमपि कृत्यं सम्पादितम्। तातपादनिदेशं शिरसि धृत्वैव च मया न तदपकारिणः पापिष्ठा दुर्जना अन्विष्टा दण्डिता वा। तातपादस्य सर्वमपि धनं मया, पुरुषोत्तमन्यासं संस्थाप्य, तदीयकोष एव संरक्षितम्।

नगरनिगमाधिकारिणामनुमतिमवाप्य तातपादस्य कुटीरस्थाने पुरुषोत्तममन्दिरं, कोषागारमार्गेऽपि च वटवृक्षतले कामपि प्रपां निर्मातुमिच्छामि।

–रचनाकालः

२८.०५.२००८ ई०।

•

प्रीतिदर्पणः

दिनद्वयादस्वस्था वर्तते वत्सला। कदाचित् शीर्षपीडा कदाचित् उदरशूलं कदाचिच्च नेत्रयोरसह्यतापः। एकस्मिन् रोगे समुपचरिते प्रशान्ते च सत्यन्यः सहसोद्भवति। एवं प्रतीयते यथा सर्वेऽपि रोगास्तां पर्यायेण पीडयितुं बद्धपरिकराः। निसर्गत एव क्षीणशरीराऽसौ। यौवनवसन्ते समागतेऽपि करीरवनिकेव नाऽसौ पत्रपुष्पफलवती जाता। वराकी किं कुर्यात्? यच्छरीरं विधात्रा प्रदत्तं तेनैव जीवनयात्रा करणीया। तत्र को नु विवादः? न कमपि जीवं सम्मन्त्र्य विधिस्तं समुत्पादयति। कीदृशं कुलं काम्यम्? का जातिस्तेऽभिमता? स्त्रीत्वं पुंस्त्वं वा तवाकाङ्क्षितम्? कीदृशं मनः कीदृशी वा प्रकृतिस्तवाऽभिलषितेति न विरञ्चिःकमपि जनिष्यमाणं जीवं पृच्छति। हन्त, सर्वथा परवशोऽयं जीवो जननमरणविषये।

तत्सर्वं वत्सला सुष्ठु जानाति। इलाहाबादविश्वविद्यालयस्य छात्री सा। दर्शनविषये एम्०ए० परीक्षोत्तीर्णा। विविधदर्शनेष्विन्द्रियनिरूपणमिति विषयमवलम्ब्य पीएच्०डी० शोधकार्यमपि प्रारब्धं तया। परन्तु तावता कालेनैव तन्नियुक्तिर्जाता शिक्षाविभागे। त्वरितगत्या पदोन्नतिमाप्नुवानाऽसौ सम्प्रति उपनिदेशिकापदं बिभर्ति। तत्सौजन्यं वैनीत्यं वैदुष्यं सद्व्यवहारमण्डितं दैनन्दिनवृत्तञ्चेति सर्वमपि कार्यालये बहुचर्चितं तिष्ठति। सहकर्मिणोऽधिकारिणोऽधीनस्थाश्च कार्यालयनियुक्ताः परिकराः सर्वेऽपि सम्भूय वत्सलायामतितरां स्निह्यन्ति, तद्वशंवदाश्च तिष्ठन्ति।

विश्वविद्यालयशिक्षावधावेव पितृचरणो दिवङ्गतः। जन्मदात्री वत्सलां, तदनुगतौ च भ्रातरौ प्रसूय, प्रागेव दिवङ्गताऽऽसीत्। सम्प्रति, परिवारे ज्येष्ठा सती वत्सला, केन वा चिन्त्येत? आत्मानं विहाय न कोऽप्यन्यस्तस्याः संरक्षकश्चिन्तयिता वा। परन्तु सोऽप्यात्माऽनुजयोः कृते प्रयत्नपरो जातः। अनुजौ द्वावपि यथोचितशिक्षां गृहीत्वा शासनसेवायां नियुक्तौ। परिणयोऽपि तयोर्निर्व्यूढः। सम्प्रति तावुभावपि पुत्रपुत्रीवन्तौ स्वे स्वे कुटुम्बे रमेते। उभावपि वत्सलाहस्तनिर्मिता रोटिकाः खादित्वा वर्धितौ। जननीनिर्विशेषया तयैव पालितौ पोषितौ संरक्षितौ जीवने स्थेमानं लब्धवन्तौ। सम्प्रति तयोरेव पर्याय आसीत् ज्येष्ठभगिन्याः कल्याणमङ्गलचिन्तने? परन्तु तन्न विहितं केनाऽपि। कथं नु ज्ञायेत तयोर्मनोभावः?

किन्नु चिन्तयतोऽनुजौ? भगिन्याः परिणयस्य काऽवश्यकता? उच्चवेतनवती सा। यथेष्टं खादतु पिबतु। आमोदं प्रमोदमनुभवतु। किन्नु नैयून्यं तस्या जीवने? परिणयो नाम चित्ताकर्षकं बिम्बफलमेव। योऽश्नाति सोऽपि तिक्तस्वादवशात् पश्चात्तपति, यो वाऽनश्नाति सोऽपि, सन्दिग्धस्वादलोभवशात्! हन्त, सुखिनी ज्येष्ठा भगिनी। नाऽग्रे पश्चाद्वा तस्याः काचित्समस्या। स्यादेवम्मानिनावेव भ्रातरौ। भ्रातृजाययोस्तु चिन्तनपरिसरे वत्सलायाः प्रवेश एव निरुद्ध आसीत्। इयमासीद् वत्सलायाः कौटुम्बिकी स्थितिः।

तामेव स्थितिमात्मसात्कुर्वाणा वत्सला सम्प्रति सप्तत्रिंशद्वर्षदेशीया जाता। नयनयोरधः कालिमा समुत्पन्नः। कपोलयोः वार्धक्यरेखाः काश्चन परिलक्षिताः। पलितकेशानसौ महता प्रयत्नेन रञ्जयित्वा कृष्णान् कुरुते स्म। कान्दिशीकं यौवनं यथाशक्ति रक्षन्त्यपि वत्सला सम्प्रति नैराश्यमनुभवति स्म! अवसिते सति मधुकोशे को नु भ्रमरः पुष्पवीथीं पश्यति? हा विधे! निर्जलायां नद्यां सम्प्रति नौस्तरणस्य का सम्भावना? द्वीपभूमिरिवास्म्यहम्। परितो मामपारजलसम्भारो नद्याः। परन्तु लहर्यो न मां जातु स्नपयन्ति। न मयि हलकर्षणं, न बीजवपनं, न वा हरितशस्यम्। तत्किमहं समुड्डयनखिन्नानां गृद्ध्राणां, जलशैत्योद्विग्नानां नक्राणां च विश्रममात्राय नद्यां समुत्थिता?

इत्येवं चिन्तयन्त्या वत्सलायाः कपोलमण्डलं नेत्रच्युताश्रुक्लिन्नं सञ्जायते स्म।

–मैडम! चायपेयमानीतं मया। प्रथमं पिबतु भवती पेयमिदम्। पश्चाद् गोधूमद्विदलं क्षीरशर्कराभ्यां संस्कृत्यानयामि। तदेव भविष्यत्यद्यतनः प्रातराशः। कश्चित्स्वरोऽश्रूयत।

अयमासीत् कार्यालयसेवको बाबूरामः। सप्तवर्षेभ्यो वत्सलया सहैव सम्बद्धः कार्यालये स्वनियोगं निर्वहति। त्रिंशद्वर्षदेशीयोऽसौ। द्वादशकक्षां यावदधीत्य यथाकथञ्चिद् वृत्तिमवाप्नोत्। वृद्धपितरौ भक्त्या सेवमानो भगिनीमेकां, सहोदरश्चैकं कनीयासं संरक्षन्नसौ विलक्षणमेव कमपि परितोषमनुभवतिस्म। अस्मिन्नेव विलक्षणपरितोषप्रवाहे न कदाप्यस्मरदसौ विवाहं पत्नीं सन्ततिं वा। पश्चाच्च, स्वामिन्या वत्सलाया जीवनचर्यां दृष्ट्वा स परिणयसन्दर्भमेव न्यषेधीत्।

चिन्तयति बाबूरामः-कथं न विवाहं कृतवती स्वामिनी? साऽपि नार्येव। तान्येवेन्द्रियाणि। सैव पिपासा। सैव भोगाकाङ्क्षा। सैव सन्ततिकामना! किमासीत् नैयून्यम्? जानाम्यहं यन्नाऽसौ रूपसौन्दर्यप्रतिमा। नोर्वशी न तिलोत्तमा। तेन किम्? सामान्यरूपवतैव केनचित्पुरुषेण सार्धं कथं न सङ्गताभूत्। किं रूपवतां पुरुषाणां समधिकतरा भोगशक्तिः?यद्वा रूपसौन्दर्यहीनानां महिलानामेव किञ्चिदसामर्थ्यं पुरुषपरितोषे? दाम्पत्यकर्मणि न महीयते रूपं सौन्दर्यं वा। तत्र महीयते केवलं नारीपुरुषयोः मिथः आत्मसात्करणम्। वस्तुतः दाम्पत्ये प्रीतिमात्रं भुज्यते, न तावच्छरीरम्। प्रीतिं भुक्त्वैव जायते परितोषो निर्वृतिर्वा। वेश्यां भुक्त्वा कथं न जायते तृप्तिः? यतो हि लम्पटो जनो वेश्यायाः शरीरमात्रं भुनक्ति, न तस्याः प्रीतिम्। हन्त, अस्मत्स्वामिनी तु परमबुद्धिमती, शिक्षिताऽनुभवसम्पन्ना च। कथं न तयैतत्सर्वं चिन्तितम्? सौवर्णं जीवनं कस्माद् धूलिसात्कृतं तया?

चायपेयं दत्वा चिन्तामग्नो बाबूरामः कक्षाभ्यन्तरे प्रविष्टः प्रातराशनिर्माणाय। प्रत्यावृत्य दृष्टं तेन यच्चायचषकं यथावत् निहितं वर्तते त्रिपाद्युपरि। गोधूमद्विदलशरावं त्रिपाद्यां स्थापयन् सरोषमिवाऽवदत्-मैडम! किमिदम्? चायपेयं न गृहीतं भवत्या? शीतलीभूतम्। भवतु, भूयोऽप्युष्णयित्वाऽऽनयामि। तावद्गृह्णातु भवती गोधूमद्विदलम्।

श्रुतम्मया यदिदमतीव पौष्टिकं भवति। धनकुबेराः लक्षकोटिपतयस्तु प्रातराशरूपेण गोधूमद्विदलमेव गृह्णन्ति। इदमपि श्रुतम्मया यद् गोधूमद्विदलस्य कृशरमपि पुष्टिकरं स्वादु च भवति। विशेषतो रुग्णेभ्यो दीयत इदम्।

वत्सला सर्वं श्रुत्वाऽपि निश्चेष्टैव समलक्ष्यत। न चायं गृहीतवती, न वा गोधूमद्विदलम्। अनयोपेक्षया समुद्विग्नो जातो बाबूरामः। किञ्चिदपरं नतोन्नतं भणेत् तत्पूर्वमेव व्यादत्तवती वत्सला।

–बाबूराम! न मे मन उत्सहते किमपि पातुं भोक्तुं वा!

–मैडम! नाऽत्र मनसः प्रभुत्वम्? मनस्तु शरीरस्य शत्रुभूतमेव। पामरा अपि जानन्ति रहस्यमिदम्। भवती तु सर्वशास्त्रपण्डिता। किमेतावदपि न जानाति भवती। रोगेण शरीरं क्षीयते, न मनः। मनसस्तु रोगा अन्यविधाः भवन्ति।

सामान्यशिक्षासम्पन्नस्यापि स्वसेवकस्य गहनदार्शनिकसमीक्षामयीमिमां वाचोयुक्तिं निशम्य वत्सला हतप्रभा जाता। सकलसंहननव्याप्तविचित्रझङ्कृतिकरम्बिताऽसौ झटित्येवाऽर्धकायेनोत्थाय शय्योपरि समुपविष्टा, चायचषकञ्च दक्षिणकरेण गृहीतवती।

–अलम्। अलं शीतलीभूतं चायं निपीय। अपरचषकमहमानयामि। बाबूरामोऽभणत्।

–बाबूराम! जानासि त्वं यदहं नातितरामुष्णं भोज्यं पेयं वा गृह्णामि। तदलं भूयः परिश्रमेण। चायं निपीय गोधूमद्विदलमपि ग्रहीष्यामि। प्रसन्नोऽसि साम्प्रतं न वा?

बाबूरामः सर्वं विस्मृत्य स्मितकं चकार।

–इयद्विशालेस्मितकस्य कोऽभिप्रायः? बाबूराम! ममाशनेन पानेन वा ममैव तृप्तिर्न तव। तत्कथं नु त्वया निर्बन्धो विधीयते? रुग्णाऽहमस्मि। रोगस्य दुःखमपि मयैवाऽनुभूयते। रोगस्य हानिर्लाभो वाऽपि ममैव। तत्किमर्थं त्वं दूयसे!

न किञ्चिदुक्तवान् बाबूरामः। स्वामिन्या वाक्यानि श्रुत्वाऽसौ वृक्षोऽवकेशीव तस्थौ। ग्रीष्मप्रदोषकालीनमगस्तक्षुपपर्णजालमिव तन्मुखं क्षामच्छायं जातम्। तत्सर्वं दृष्ट्वा वत्सलाऽऽत्मानमपराद्धां मन्यमाना गभीरा जातावदच्च–

–बाबूराम! मत्कथनमप्रियं जातं ते? अलं रोषेण। मत्कृते त्वदुद्यमं सन्तापञ्च दृष्ट्वैव मयैतत्कथितम्। पश्य, मत्तोऽप्यधिकरुग्णः प्रतीयसे। मम प्रातराशः, मम सायं-प्रातर्भोजनं, त्रैकालिकमौषधम्, पथ्यमपथ्यम्! हन्त सर्वं त्वमेवैकलो निर्वहसि। एतावती सपर्या तु कुटुम्बिभिरपि न क्रियते। वत्सलाऽवोचत्।

–मैडम! मानवस्तु पशुभिरपि सार्धं मानवीयतामाचरति। ये बलीवर्दा हलं कर्षन्ति, या गौर्महिषी वा दुग्धं ददाति, यो वा क्रमेलको भारं वहति, यश्च कुक्कुरो गृहं रक्षति ते सर्वेऽपि गृहसदस्या एव प्रतीयन्ते। मानवगृहसदस्याः न तावत्पशवः।

मम प्रतिवेशिन्या महिषी प्रसवानन्तरमेव मृता। मैडम! किं कथयानि? प्रतिवेशिनी करुणकरुणमेवमरोदीत् नभोविदारं यत्सर्वेऽपि ग्रामवासिनोऽध्वनीनाश्चापि निरर्गलाश्रुक्लिन्नाः सञ्जाताः।

मैडम! पशोः कृतेऽपि यदीयती क्रन्दना तर्हि का कथा मानवस्य? सप्तवर्षेभ्योऽहं भवत्संरक्षणेऽस्मि। सत्यमेव भणतु भवती। किम्मां सेवकमात्रं मनुते भवती? किं भवत्या नाऽहं स्वकुटुम्बसदस्य इव व्यवहृतः? केवलं कार्यालय एवाऽहं भवत्सेवकः। परन्तु गृहे तु अहमेव भवत्याःसंरक्षकः। अहमेव पचामि, भोजयामि, सुखं दुःखञ्च पृच्छामि। एतत्सर्वं कुर्वाणस्य मेऽपि काचिद्विलक्षणैव आसक्तिर्जाताऽस्ति भवतीं प्रति। सम्प्रति तु प्रतीयते यद् भवतीमपहाय न कमप्यपरमधिकारिणं सेवितुं शक्तोऽस्मि।

एतावदुक्त्वा वत्सलाप्रतिवचनमनपेक्ष्यैव बाबूरामः कक्षाभ्यन्तरमुपगतः। अन्तःस्थित एवाऽकथयत्–अहं मध्याह्नभोजनं पचामि। यदि किमपि करणीयं स्यात्, मामाह्वयतु भवती।

बाबूरामस्य वाचिकं श्रुत्वा वत्सलाऽशान्ता जाता। तद्व्यक्तित्वदर्पणेऽकस्मादेव तस्याः प्रतिबिम्बः परिलक्षितः। शान्तपयोधिकल्पे तदीयाऽन्तराले कामनोत्तालतरङ्गाः सहसैव समुदतिष्ठन्। साऽचिन्तयत्–तत्किं बाबूराम एव मदीयसंरक्षकः? यदि मयि तस्यैतावत्यासक्तिस्तर्हि कथं न साऽऽसक्तिर्मया समाद्रियते? स खलु मत्तःसप्तवर्षेभ्यः कनीयान्। जातिदृष्ट्याऽसौ मत्तोऽवर एव। पदप्रतिष्ठादृष्ट्या तु आवयोर्मध्ये सागर-कल्पोऽवकाशः। परन्तु मया साहसेऽनुष्ठिते सति सर्वं समीहितं सिद्धं भविष्यति।

किञ्चित्कालानन्तरं बाबूरामः भूयोऽपि वत्सलाकक्षमागतवान्। चायपेयं प्रातराशञ्चावसितं दृष्ट्वाऽऽश्वस्तोऽभूदसौ। प्रसन्नतां प्रकटयन् अवदत्–अतीव सुन्दरम्। भवत्या प्रातराशो गृहीतः। द्रक्ष्यति भवती यत् कियता वेगेन स्वास्थ्यं पुनरावर्तते। अहमद्य मध्याह्नभोजनार्थं परवलमानीतवानस्मि। परवलयूषे महदौषधं भवतीति अस्माकं गृहवैद्यःकथयतिस्म। रोटिकाभिस्सार्धं परवलशाकं समुपभुज्य परितुष्टिरपि भविष्यति।

–बाबूराम! आत्मनः कृतेऽपि किञ्चित् पचसि न वा? स्मितं कुर्वती वत्सलाऽपृच्छत्।

–आत्मनः कृते? नाहं भवतीव रोगाक्रान्तः। यत्किञ्चिदपि खादिष्यामि, अर्धहोरामात्रेणैव सर्वं प्रलीनं भविष्यति। बाबूरामोऽवदत्।

–बाबूराम! आत्मनो मम च कृते चषकद्वयं कॉफीपेयं विधेहि। वार्तालापं कुर्वाणौ युगपदेव पास्यावः। वत्सलाऽवदत्।

–भवत्या सार्धम्? भवत्याः समक्षम्? मैडम! एषु सप्तवर्षेषु किमहं कदाचिदपि भवदुपस्थितौ किञ्चित्पीतवानस्मि?

–परन्त्वद्य पास्यसि। इदमहं भणामि।

–मैडम! भवती मम स्वामिनी! तत् कथमहं .....।

–बाबूराम! त्वयैव कथितं किञ्चित्पूर्वं यत्कार्यालय एवावयोः स्वामिसेवक-सम्बन्धस्तिष्ठति। गृहे तु त्वं मम संरक्षकः, सुखदुःखसहचरश्च। भण तावत्। कथितं न वा?

–कथितं कथितं मैडम! किन्तु .....।

–बाबूराम! अलं किन्तुना परन्तुना। यदि मां कॉफीपेयं पिवन्तीं द्रष्टुमिच्छसि तर्हि यत्कथितं मया तदनुतिष्ठस्व। वत्सला कृतकरोषमिवाभिनयन्ती अकथयत्।

बाढं बाढम्। कॉफीं निर्माय आनयामि। इति वदन्नेव बाबूरामो रसवत्यां प्रविष्टः। स्वामिन्या हृदयाकाशे को नु सङ्कल्पचन्द्रोऽद्य समुदित इत्यसौ न वेद। एवमभूत्तस्य चेतसि–हन्त! यन्मयाऽद्य कथितं तस्यैव फलमिदम्। सत्यमेव स्वामिनी न मां सेवकमात्रमवगच्छति। मामात्मीयं मत्वैव सा ममोपरि निजाधिकारं प्रदर्शयति। मया सार्धमेव कॉफीं पातुमिच्छति। अहो नु मम सौभाग्यम्। अन्यथा का नु विदुषी सर्वगुणसम्पन्ना महिला स्वसेवकाय सामान्यकुलजातिगोत्रोत्पन्नाय एतावन्तं समादरं प्रयच्छति?

कॉफीचषकद्वयेन सह समागतो बाबूरामः। सङ्कोचलज्जासाध्वसादिभावानां नैका उच्चावचाः सोपानवीथीः क्रमेणारुह्याऽवरुह्य, वत्सलया विविधयुक्तिभिराश्वस्तः प्रदत्तोत्साहश्च बाबूरामो यथाकथञ्चित् स्वामिन्या सार्धं कॉफीमपिवत्। एवं कुर्वतोऽपि तस्य, वत्सलया सार्धं, सकृदपि चातुरक्षिकं न जातम्।

–बाबूराम! त्वन्तु तथा समाचरसि यथा क्रुद्धवरे[१] कश्चिद् दुर्लभः[२] समाचरति। प्रहसन्ती वत्सलाऽवादीत्।

–मैडम अलं मामुपहस्य। अद्य व्रतं मे खण्डितं भवत्या। स्वामिसेवक-योर्मध्येऽवकाशेन भवतिव्यमेव। सोऽवकाशो भवत्याऽद्य समाप्तिमुपनीतः। इदानीं कथयिष्यति भवती यन्मया सहैव भुङ्क्ष्वेति।

–तत्तु कथयिष्याम्येव। यथा कॉफीं पीतवानसि तथैव भोजनमपि करिष्यसि। बाबूराम! भोजने पाने च किमन्तरम्? त्वमेव भण। उभेऽपि तुल्यकार्ये। परन्तु भोजनात्पूर्वं तन्निर्माणमावश्यकम्। गच्छ तावत् रसवत्याम्।

उभावपि प्रसन्नावास्ताम्। परन्तु बाबूरामस्य प्रसन्नताऽसीत् सात्त्विकी। वत्सलायाः प्रसन्नता पुनः राजसी एवाऽसीत्। बाबूरामं प्रति समुद्भूतं तत्प्रेम भोगात्मकं सदपि निर्वहणमूलं मर्यादितश्चासीत्। सा प्रणयपरिनिष्ठहृदयेनैव बाबूरामं स्वजीवनसहचरं वरीतुमियेष। क्षणिकभोगसुखकामनाया लेशोऽपि नाऽसीद्वत्सलाया हृदये। यथा भगवती भागीरथी सागरं सङ्गत्य स्वास्तित्वं स्वतन्त्रं विलोपयति तथैव वत्सलाऽपि स्वास्तित्वं स्वतन्त्रं विलोपयितुमिच्छतिस्म बाबूरामेण सहैक्यं विधाय।

---

१. कोहबर इति लोके २. दूल्हा

भोजनं सम्पन्नम्। माध्याह्निकं सायन्तनञ्चापि। बाबूरामस्य सर्वेऽप्युपाया निष्फला जाताः। विवशीभूय वत्सलया सार्धमेव भोजनमसौ निर्वर्तितवान्। इदानीमपि वत्सलायै कवोष्णं दुग्धं रात्र्यौषधञ्च देयमासीत्। परन्तु प्रागेव ततः वत्सलाऽकस्मात् पृष्टवती–

–बाबूराम! कथं न त्वया विवाहः कृतः?

–मैडम! अवसर एव न समुपलब्धः। दरिद्रगृहे समुत्पन्नोऽहम्। दरिद्रगृहाणां समस्या न जानाति भवती। वर्षभोज्यमन्नमपि न भवति सुलभम्। यथाकथञ्चित् तातपादेन पालितः पोषितोऽहं द्वादशकक्षां यावदधीतवान्। बलवती स्पृहाऽऽसीत् स्नातक–स्नातकोत्तरकक्षोत्तरणस्य। परन्तु गृहसङ्कटं दृष्ट्वैव मया सेवावृत्तिरियं स्वीकृता। अनया सेवावृत्त्यैव पितरौ सुखिनौ जातौ। भगिन्या विवाहः सञ्जातः। कनीयान् सहोदरोऽपि सम्प्रति स्नातककक्षायामधीते। एतत्सर्वं परस्परानुबद्धमासीत्। तत्र क्वासीदवकाशो विवाहस्य कृते?

–बाबूराम! इदानीन्तु वर्ततेऽवकाशः?

–मैडम! साधूक्तं भवत्या। परन्तु यस्मिन् कुले जातौ वा समुत्पन्नोऽहं तत्र न कापि कन्या द्वादशवर्षीयाऽप्यनूढा तिष्ठति। अहमस्मि सम्प्रति त्रिंशद्वर्षदेशीयः। तुल्यवयाः का नु सजातीया महिला मां प्रतीक्षते? भवतु, जीवनग्रन्थस्य पर्णमेवेदं मया सम्पुटितम्। यादृशमपि विद्यते, मम जीवनं मह्यं रोचते।

–बाबूराम! यदि विजातीया काऽपि त्वां प्रतीक्षेत? तां स्वीकरिष्यसि न वा? सहसैव वत्सलाऽपृच्छत्।

–विजातीया काऽपि? मैडम! का नु विजातीया मां प्रतीक्षते? किमर्थं प्रतीक्षिष्यते? को नु गुणो मयि? किं भवत्या काऽपि मत्परिणययोग्या महिलाऽवलोकिता?

–अवलोकिता बाबूराम! अवलोकिता। तत एव भणामि।

–किं सा विजातीया?

–अथ किम्!

–मैडम! का नु सा? किञ्चिद् विस्तरेण तद्विषये कथयतु भवती।

–बाबूराम! त्वद्गुणसौरभवशीकृता सा विजातीया रमणी त्वत्समक्षमेव तिष्ठति। भद्र! निर्भरं विलोकय ताम्। साऽहमेवास्मि। श्वस्तने प्रातःकाले एव पार्श्ववर्तिनि मन्दिरे आवयोः परिणयः सम्पत्स्यते।

–मैडम! ....

–अलम्मां मैडमेति सम्बोध्य। इतः प्रभृति मन्नाम्नैव मां सम्बोधयिष्यसि। अहमपि स्वाभिधानं परिवर्तयिष्यामि–वत्सला बाबूरामेति। आवयोः स्वामिसेवकसम्बन्धः सम्प्रति क्षीयते, प्रादुर्भवति च पतिपत्नीसम्बन्धः। बाबूराम! आवयोर्मध्ये सन्त्यनेके

भेदाः। वयोऽन्तरं, जात्यन्तरं, शिक्षान्तरं, सामाजिकप्रतिष्ठान्तरमिति। परन्तु भद्र! सर्वाण्येवान्तराणि स्वप्रीत्या खलीकरिष्याव आवाम्। स्वस्फटिकनिर्मलदाम्पत्यानुरागेण समाजे कमप्युदात्तमादर्शं संस्थापयिष्याव आवाम्। अयं मार्गोऽपि त्वयैव दर्शितः। त्वयैव मन्त्रितं यत् दाम्पत्यमूलं भवति उभयसाधारणं प्रेम, न पुनश्शरीरम्। आवयोः सर्वेऽपि कुलजातिशिक्षावयोभेदाः शारीरा एव। परन्तु प्रीतिस्त्वावयोरुभयसाधारणी। आवां तां प्रीतिमात्रं भोक्ष्यावः न तावच्छरीरम्। त्वमेवाऽसि मत्प्रीतिदर्पणः। बाबूराम! मत्प्रीतेर्दर्पणस्त्वमेवासि!

इत्येवमुक्त्वैव वत्सला शाटिकाञ्चलेन शीर्षमवगुण्ठ्य सश्रद्धं बाबूरामस्य चरणौ स्पृष्टवती प्रगाढालिङ्गने च तं बबन्ध। बाबूरामोऽपि, सांख्यपुरुष इव निस्सङ्गो निर्विकारो निष्क्रियः सन्नप्यकस्मादेव सक्रियो जातः प्रकृत्या सम्पृक्तः। शरीरद्वयशर्करा क्षणेनैव मनस्सलिले मिलित्वा द्रवीभूता।

।। कथोपसंहारः ।।

इलाहाबादनगरे मन्त्रिवासस्थानं निकषैव वर्तते वत्सलासङ्गणककेन्द्रम्। अस्यैव केन्द्रस्य प्रबन्धकोऽस्ति बाबूरामः। विवाहदिवस एव बाबूरामस्त्यागपत्रं सम्प्रेष्य कार्यालयसेवावृत्तिं त्यक्तवान्। वत्सलाऽपि स्वोपार्जितधनेन सङ्गणककेन्द्रमिदं संस्थाप्य पतिं व्यवस्थापितवती। उभयोः द्वौ पुत्रौ। बाबूरामस्य पितरावपि स्नुषया पुत्रेण च सार्धमेव निवसतः। इदं कथासूत्रं स्वयमेव बाबूरामो काणभूतिरिवमह्यमाख्यातवान्। अहं पुनर्गुणाढ्य इव लोकानुरञ्जनदृष्ट्या तां कथां सहृदयेभ्यः समुपायनीकरोमि।

-रचनाकालः

८.६.२००९ ई०।

•

मध्यममाज्जुका[1]

ज्येष्ठमासस्य तस्मिन्नसह्ये मध्याह्ने गृहप्रपञ्चेभ्यो मुक्ताः सर्वा अपि गृहस्त्रियः पुनरपि मध्यमाज्जुकां परिवार्य स्थिता आसन्। भारतस्यौदीच्यग्रामेषु निदाघमध्याह्नोऽयं भवत्येव हासपरिहास-पराभिनय-लोकवार्तादिकृते सुरक्षितः। सम्पूर्णेऽपि ग्रामे भवन्त्येव कानिचित् केन्द्राण्येषाम्। क्वचित् ठक्कुरराज्ञ्याश्चतुश्शालकं[2], क्वचित् यायावरनापितपत्न्या लघुकुटीरं, क्वचिद्वा पुरोहितगृहम्। पुरुषास्तु यत्र कुत्रापि ताश-चतुरङ्ग-गञ्जीफादिखेलनैः रामायणमहाभारतविरह (विरहा) चन्दायन (चनैनी) वाणिज्यादि (बनिजारा) श्रवणैर्वा समयं नयन्तिस्म, ग्रामस्त्रियः पुनर्मनोऽभिलषितेषु स्वेषु केन्द्रेषु स्थित्वैव कालमनैषुः।

तत्रापि मध्यमाज्जुकायाः केन्द्रं महत्तममासीत्। कुटुम्बस्य तिसृषु वृद्धासु मध्यमा सती मध्यमाज्जुकेत्युच्यतेस्म सा पौत्रीपुत्रसमुदायोपचितात्वाच्च निखिलैरपि कुटुम्बिभिः।

वस्तुत इदमासीत् ग्रामपुरोहितगृहम्। लक्ष्मीपतिरमापतिशचीपतिसंज्ञास्त्रयो भ्रातरस्ते लोकपूज्याः पण्डिता आसन्। कुलक्रमागतपरम्परयैव पाण्डित्यं पौरोहित्यं वैद्यकं विषोपचारादिकञ्च कुलमिदमाश्रयन्तिस्म। तत्रापि ज्येष्ठो लक्ष्मीपतिस्तु दैक्षिको गुरुरासीत्। स प्रायेण श्रीमद्भागवतपारायणादिव्याजेन गृहाद्बहिरेवाऽतिष्ठत्। वर्षावधौ वारद्वयं वारत्रयमेव वाऽसौ गृहमुपावर्तत। मध्यमो रमापतिः लोकपुरोहितत्वान्नितरामेव व्यापृतोऽभूत्। क्वचिद् विवाहसंस्कारः, क्वचिदुपनयनं, क्वचिद्दशवर्णयज्ञः, क्वचित्सत्यनारायणव्रतकथा, क्वचिद्गृहीतव्रतपूर्त्युद्यापनं, क्वचिद्धरितालिकाव्रतकथा, क्वचिन्नवरात्रे दुर्गासप्तशतीपाठः, क्वचिद्वा भवनशिलान्यास इत्यनवरतप्रवर्तितधर्मकार्यैरसौ आदिवसं ग्रामाद् ग्रामं हिण्डमानो रात्रावेव प्रत्यावर्ततेस्म। तृतीयोऽपि शचीपतिः कर्मकाण्डज्ञानशून्यः केवलं गृहप्रबन्धं पश्यन् समयं यापयतिस्म।

गृहे पञ्च वध्व आसन्। तिस्रो ज्येष्ठपितामहस्य। एका मध्यमपितामहस्य। एका चैव कनिष्ठपितामहस्य। कनिष्ठस्य द्वौ पुत्राविदानीमप्यनूढौ तिष्ठतः स्म। एवं हि योगक्षेमदृष्ट्या लोकख्यातिदृष्ट्या च पुरोहितगृहमिदं ग्रामे महीयते स्म।

मध्यमाज्जुकाया नामाऽसीत् देवकुमारीति। बबना-सिलना-गजना-रूपा-सरजू-जगद्देवीति प्रायः श्रूयन्तेस्म नामानि ग्रामस्त्रीणाम्। परन्तु तेषां मध्ये देवकुमारीति समाख्या गुञ्जानां मध्ये मुक्तेव प्रकाशतेस्म। तस्यापि कारणमासीत्। मध्यमाज्जुकाया जन्मभूमिः जौनपुरनगरं निकषैवाऽसीत् गोमत्यास्तटे। तस्या भ्राता पण्डितवंशलोचनोऽपि संस्कृतशास्त्रप्रवीणो नगरस्थे मिशनविद्यालये संस्कृतमध्यापयतिस्म। पितृचरणोऽपि मध्यमाज्जुकाया द्विजधर्मनिरतः शास्त्रज्ञस्सदाचारसम्पन्नश्चासीत्। तस्य सुदृढं सख्यमासीत् राजगुरुणा पण्डितश्यामसुन्दरेण सह।

---

१. मँझिलकी आजी २. ठकुराइन की चौसाल

कदाचित् प्रवृत्ते सति देवकुमार्या विवाहसन्दर्भे, राजगुरुरेव तम् अस्मिन् परिचिते परिवारे प्रैषयत् यस्योपरि चर्चा कृता। वंशलोचनः स्वयमेव समागतो रमापतिं सन्द्रष्टुम्। यद्यपि नासीदसौ तद्वत् परमशिक्षितो न चापि क्वचिन्नियुक्तस्तथापि त्रयाणां बन्धूनां सौहार्दं कुटुम्बस्य लोकप्रतिष्ठाञ्च दृष्ट्वाऽसौ सम्बन्धमिमं स्वीकृतवान्। एवं हि नगरनिवासमर्हन्ती, श्रेष्ठतरपरिणययोग्या मध्यमाज्जुका नगरोचितसर्वसौविध्यविरहिते पण्डितकुलेऽस्मिन् समागता वधूरूपेण। परन्तु एवं सत्यपि सा परमसुखिनी सौभाग्यगर्विता चासीत्। प्रकृत्यैव परं शान्ता, मितभाषिणी, शीलसौजन्यमण्डिताऽसौ न कदाप्यात्मानं दुरवस्थामन्वभूत्।

पण्डितरमापतिः प्रांशुस्कन्ध आजानुबाहुः सिंहोरस्कः सुदर्शनयुवक आसीत्। तदप्रतिमशरीरबलस्य चर्चा समग्रेऽपि परिवेशे व्याप्तासीत्। आंग्लानां शासनकालोऽयमासीत्। न तावता कालेन विविधयन्त्रादिसाधनान्युपलब्धान्यासन्। अतएव सर्वत्रापि मानवबलस्यैव प्रतिष्ठाऽसीत्। इक्षुरसनिष्पीडनार्थमपि पाषाणनिर्मितं बृहद्यन्त्रमासीत्[१]। वर्तुलपाषाणशिलाया उपरि निर्मिते प्रकोष्ठे इक्षुदण्डो निकृत्य-निकृत्याधीयतेस्म। अथ च प्रकोष्ठनिविष्टबबूरकाष्ठदण्डेन, वृषभयुगलेन परिधौ आवर्त्यमानेन, निष्पीडितमिक्षुखण्डजातं रसं च्यावयतिस्म। परन्तु महदुद्वेगकरोऽयमासीदुपायः। रसो न पूर्णतया निष्पीडितुं शक्यते स्म। जनबलहानिरप्यासीत्। कश्चिदिक्षुदण्डच्छेदकः, कश्चिन्निरन्तरमेव यन्त्रप्रकोष्ठे तत्संक्षोभकः, कश्चिद् वृषभयुग्मप्रतोदकः, कश्चिन्निर्गलितेक्षुरसस्य संग्राहकः, अपरे च प्राप्तरसस्य परिपाककर्मणि शर्करानिर्माणे च व्यापृता इत्येवं प्रायेण दशमिता जना अपेक्ष्यन्ते स्म। अयमासीत् पारम्परिक उपायः गुडखण्डादिनिर्माणस्य।

तावदेवाङ्ग्लैराविष्कृतं किञ्चित्परिष्कृतं लौहयन्त्रम्। अस्मिन् यन्त्रे लौहनिर्मितं वेल्लनत्रयं काष्ठफलकोपरि स्थापितमासीत्। एतानि वेल्लनानि शीर्षनिर्मितदन्तशृङ्खलाभिस्तथा मिथस्सम्पृक्तानि आसन् यथा मुसलाख्यस्य प्रधानवेल्लनस्यावर्तनेन वेल्लनत्रयमेवावर्तितं जायतेस्म। इक्षुदण्डो यावदेव वेल्लनरन्ध्रे दीयतेस्म तावदेव परिवर्तमानेन निखिलयन्त्रेण निष्कुषितस्सन् सकलोऽपीक्षुरसो लौहफलकमुखेन हस्तिनखेन गर्तस्थापिते भाण्डे पततिस्म। अस्मिन् यंत्रेऽपि मुसलाख्यप्रधानवेल्लनशीर्षनिबद्धं वंशदण्डं काष्ठदण्डं वा वृषभावेव कर्षतः स्म। परन्तु सरल आसीदयं विधिः। पुरुषद्वयेनैव इक्षुनिष्पीडनं रससङ्कलनञ्च क्रियते स्म।

ग्रामे सर्वप्रथमं यन्त्रमिदं पण्डितलक्ष्मीपतिरेव क्रीतवान्। हयाकृष्यमाणे रथे[२] संस्थाप्य यन्त्रमिदं नगरात् पार्श्वस्थहट्टं यावदानीतम्। ततश्च ग्रामं यावदुष्ट्रपृष्ठोपरि विन्यस्याऽनेयमासीत्। एतद्दायित्वमासीत् रमापतेः। स खलु बहुशः प्रयत्नं कृतवान्। परन्तु दुर्भाग्यवशादुष्ट्र एव कश्चिन्नोपलब्धः। नैराश्यमनुभवन्नसौ हट्टमेव समागतः। तत्रापि

---

१. कोल्हू इति २. इक्का

कश्चित्क्रमेलको नोपलब्धः। किं कुर्यादिदानीम्? गृहद्वारे महान् जनसम्मर्द आसीत्। सर्वेऽप्यभिनवमिक्षुनिष्पीडनयन्त्रं सन्द्रष्टुं कुतूहलिन आसन्।

तावदेवाऽपश्यन् सर्वे यत्पण्डितरमापतिः किञ्चिच्छिरसि निधाय समायाति। हट्टेऽप्युष्ट्रमनवाप्य स प्रधानलौहवेल्लनं दुर्वहतमं शीर्षोपरि स्थापितवान्। मध्यमं च दृढप्रच्छदे निबध्य पृष्ठोपरि चकार। स्फुटवस्तूनि समुद्गके[१] कृत्वा दक्षिणभुजेनाऽवलम्बितवान्। तृतीयञ्च लघुवेल्लनं वाममुष्टिकयैवाऽगृह्य क्षिप्रपदैश्चलन् हट्टाद् गृहद्वारमुपागतः। तत्सर्वं दृष्ट्वैव पण्डितलक्ष्मीपतिर्विस्मितो जातः। सप्रणयमवदच्च-

आयुष्मन्! उष्ट्रो नोपलब्धस्तर्ह्यात्मानमेव उष्ट्रं कृतवानसि? शरीरं नापेक्षितं भवता? नैवं करणीयमासीत्। हन्त, इयद्भारवत्तमं लौहयन्त्रमेकल एव आनीतवानसि?

-आर्य! अलं चिन्तया। मया तु परीक्षैव कृताऽसीद् यदयं सकलोऽपि भारो मया सुखेनोह्यो वर्तते, न वा? भवत्कृपया सत्सम्भवि जातम्!

-तदयं सुखेनोह्य आसीत्?

इति सोल्लुण्ठं भणित्वैव लक्ष्मीपतिर्द्वित्रान् मल्लान् प्रेरितवान्-भद्र! किमप्येकं लौहवेल्लनमुत्थापय तावत्। पश्यान्यस्य सुखोह्यत्वम्।

पर्यायेण ते सर्वेऽपि समागताः। परन्तु लौहवेल्लनमङ्गदपादकल्पं न केनापि कटि यावदप्यानेतुं कथमप्यशक्यत। जनसंसदि हाहाकारस्समजायत। बहिर्द्वारमतिक्रम्य वृत्तान्तोऽयं शनकैर्गृहाभ्यन्तरमपि प्रविष्टः। हन्त, एकमपि लौहवेल्लनं ग्रामे न कोऽप्युत्थापयितुं समर्थो जातः। परन्तु पण्डितरमापतिरेकल एव समग्रमपि लौहयन्त्रं शिरसा पृष्ठेन हस्तेन च वहन् हट्टाद् गृहं यावत् क्रोशद्वयमागच्छत्। निश्चप्रचं भीमबलोऽसौ।

तस्मिन्नेव सान्ध्यकाले लौहकार इक्षुनिष्पीडनयन्त्रं द्वारे स्थापितवान्। अन्येद्युरेव नवेन यन्त्रेण इक्षुनिष्पीडनकार्यं प्रारब्धम्। परन्तु युगपदेव रमापतिबलपौरुषचर्चाऽपि सर्वत्र प्रसृताऽभूत्। यत्र कुत्रापि समाजेऽसौ प्रयातिस्म, तत्र-तत्रैक एव प्रश्नः-गुरुदेव! श्रुतं यत्समग्रमेव लौहयन्त्रमैक्षवं भवता.....

-भद्र! सम्यगेव श्रुतम्। यत्कार्यमात्मना सम्भवेत् तस्य करणे को नु सङ्कोचः? प्रश्नकर्तृणां पृच्छां मध्य एव विखण्ड्य रमापतिः कथयतिस्म।

परन्तु प्रश्नकर्तुर्मुखे पिहितेऽपि कथङ्कथिकानां दीर्घां पङ्क्तिं को नु वारयेत्? चिरकालं यावद्रमापतिः स्वपौरुषकथयैव भृशं शातितः। शनैः शनैः सा प्रशान्ताऽभूत्। तथापि सामर्थ्यबलपौरुषप्रसङ्गे समुत्थे सत्यद्यापि पण्डितरमापतिरेव निदर्शनीक्रियते स्म।

तादृशमेव नररत्नं वृत्वा कृतार्थाऽभवन्मध्यमाज्जुका। वस्तुतः तस्मिन् परिवारे मध्यमाज्जुकाऽवर्षणाक्रान्ते क्षेत्रेऽकालजलदवर्षेव समागता। तस्यां समागतायामेव कुटुम्बे

---

१. झोला

कायकल्प इव सञ्जातः। सर्वेऽपि धौतस्वच्छवस्त्राणि परिधातुमारब्धवन्तः। मध्यमाज्जुका सर्वा एव वधूः पाककलां वस्त्रपरिधानविधानकलां विविधपक्वान्ननिर्माणकलां, सौन्दर्यरूपसंस्कारकलाञ्च शिक्षितवती। इमाः सर्वा अपि शिक्षाः सा मातृगृह एव प्राप्तवती। पत्युः सर्वेष्वपि कार्येषु सा साहाय्यं दत्तवती।

वस्तुतस्तस्मिन् गृहे मानवस्त्रीणां मध्ये सैकलैव देवकुमारी आसीत्। तस्या ज्ञानमप्यसीमं परिलक्ष्यते स्म। अन्याः गृहस्त्रियः, ज्येष्ठपत्नी–देवरपत्नी पञ्चवध्वः कुमारी कन्या चैका–सर्वा अपि सांसारिकवार्तानिपुणा एवासन्। तासां ज्ञानमपि वापीजलकल्पं निदाघशोष्यमेवासीत्। परन्तु मध्यमाज्जुकाऽसील्लोकगीतानां शेवधिः। लोकपरम्परायाः द्विजगृहोचितकर्मानुष्ठानानाञ्चापि ज्ञात्री। तस्मादेव तत्स्फीतगुणैः पण्डितगृहं स्फीततरं जातम्।

–अज्जुके! आख्याहि तावत्किञ्चित्पुरातनम्। कनिष्ठतमा वधूः सानुनयमपृच्छत्।

तावदेव वात्येव सझम्पमागता ग्रामनापितपत्नी। अतीव मुखराऽकाण्डप्रथनपरायणा प्रकूर्दभाषिणी चासौ आसीत्। साऽकथयत्–

–भोः मुञ्च पुरातनम्। प्रत्यग्रं शृणुत, यच्छ्रावयितुं सर्वं कार्यं विहाय समागताऽहमस्मि।

–पश्यत पश्यत। देवर्षेर्नारदस्य मातृष्वसेयम्। सर्वाः शृण्वन्तु तावत्। किं भणतीयम्? ब्रूहि रे, किमानीतं त्वया? ज्येष्ठाज्जुकाऽवदत्।

–स्वामिनि! नापितपत्नी कथयितुं प्रवृता। ह्यस्तनीयं घटना। ककोहियाग्रामवासिनी कापि महिला चत्वारिंशद्वर्षदेशीया क्रोडस्थं बालमादाय मातृगृहात् पतिगृहं प्रातिष्ठत। आतपोल्लङ्घनवशात्[1] अस्वस्थशरीराऽसावासीत्। तत एव पित्रा जनन्या भ्रातृजायया चासौ भृशं निवारिता प्रस्थानात्। परन्तु नियतिर्बलीयसी। गृहे ज्येष्ठदम्पतीकन्यायाः परिणयो नेदिष्ठ इतिव्याजेन सर्वासामनुरोधं खलीकृत्य, क्वचिद्बहिर्गतं भ्रातरमप्यप्रतीक्ष्य सा प्रावर्तत।

मध्येमार्गं तस्याः स्वास्थ्यस्थितिः प्रतिकूलायाः प्रतिकूलतरा सञ्जाता। क्षणेनैव तृषा, क्षणेनैव वमनं, क्षणेनैव......। तत्सर्वं समाचरन्त्येव सा प्राणमात्रावशिष्टा जाता। अन्ते च पुरस्सर्तुमशक्नुवानाऽसौ जीवनपुरग्रामं निकषाऽऽम्रोद्याने न्यपतत्। दारकमपि एकवर्षीयं परिसर एव शाययित्वा सा वराकी अनवबोधिन्यां निद्रायामेव प्राणांस्तत्याज। प्रायेणार्धहोरानन्तरमेव प्रबुद्धो जातको दुग्धपानार्थं क्रन्दितुमारब्धवान्। यथाकथञ्चिन्मार्गयित्वाऽसौ मातृचूचुकमपि मुखे कृतवान्। हा विधे! दिवङ्गताया जनन्याः स्तने क्व स्तन्यम्?

संयोगवशात् दशमितानां स्त्रीपुरुषाध्वनीनानां कश्चित् समुदायस्तेनैव पथा गच्छन्नसीत्। ते सर्वे क्रोशन्तं जातकम् अकिञ्चित्कुर्वाणाञ्च तज्जननीमवलोक्य सञ्जातशङ्काः समीपमुपययुः। यावत्ते निपुणं निरीक्षन्ते, वराकीं जननीं गतप्राणां दृष्ट्वा परां करुणामुपगताः। केयं

---

१. लू लगने से।

महिला? कुत आगता? कुत्र वा गच्छतीति यावत्ते चिन्तयन्तिस्म तावदेव महिलायाः कनिष्ठसहोदरोऽप्युत्कण्ठावशात् तत्रागतवान्। हट्टात् प्रतिनिवृत्त्य, भगिनीं प्रस्थितां श्रुत्वैव सोऽपि वस्त्रादीनुपहारानादाय तामेव मार्गयमाण आगच्छतिस्म। स्वभगिनीं दिवङ्गतां प्रत्यभिज्ञाय सः सोरस्ताडं करुणकरुणं क्रन्दितुमारब्धवान्। कर्णपरम्परया घटनामिमां श्रुत्वा शतमिताः ग्रामीणाः पुञ्जीभूताः। ट्रैक्टरयानेन महिलाशवं ककोहियाग्रामं यावत्प्रेषयितुं प्रबन्धं कृतवान् ग्रामसभापतिः।

–क्वैतत्सर्वं श्रुतं त्वया? काचिदपृच्छत्।

–मातः! निखिले ग्रामे चर्चैषा जायते। मया तु कैवर्तवसतौ[१] श्रुतम्। तत्राद्य दूधनाथस्य गृहे मण्डपाच्छादनं गौरीगणेशपूजनं च जायेते। कुशाग्रपल्लवाद्यानेतुं तत आगताऽहं मध्यमाज्जुकां घटनामिमां श्रावयामि। सम्प्रति गच्छाम्यहम्।

इत्युक्त्वा गतायां नापितपत्न्यां कनिष्ठाज्जुका रोदितुं प्रवृता। तां प्रबोधितवती मध्यमाज्जुका–अलं रोदनेन। पश्य, कालः किं न करोति? काल एव तां वराकीं सबलात्कारं मातृगृहादानीतवान्। कन्याविवाहस्य त्वराऽसीत्तस्याः। को नु जानीयात् यत्त्वरा यमपुरगमनस्यासीत्। हे परमेश्वर! ईदृशं मृत्युं वैरिणेऽपि मा प्रयच्छ।

वातावरणमतीवकरुणं सञ्जातम्। प्रवेशाङ्कं प्रस्तूय नापिताङ्गना तु गता। सम्प्रति दृश्यान्तरं कथं जायेत इत्येव चिन्त्यमासीत्।

नवागता कनिष्ठतमा वधूरेव साहसं कृतवती।

–अज्जुके! यदा भवती वधूरूपेणाऽस्मिन् गृहे समागता तदापि एतादृश्यो घटना घटन्ते स्म? इदमातपोल्लङ्घनम्, महामारी[२], ताउनाख्यो मूषिकरोगः[३], कुक्कुरकासो[४] वा?

–अथ किं वत्से! मध्यमाज्जुकाया अनेनैव वाक्येन दृश्यान्तरं जातम्। अन्या वध्वो नवागताया उदरे पृष्ठे च अङ्गुलिं निवेश्य साङ्केतिकं वर्धापनं दातुं प्रवृत्ताः।

–अद्भुतमासीत् तद्युगम्। मध्यमाज्जुकाऽवदत्। न क्वचिदौषधालयो नो वा प्रसूतिकेन्द्रम्। सूचीनिवेशविधि–(injection) रप्यनाविष्कृत आसीत्। दीपशलाका[५]ऽप्युपलब्धा नासीत्। अतएवाऽस्माभिर्हसन्त्यामग्निः संरक्षणीय एवासीन्नक्तन्दिवम्। प्रभाते सञ्जाते एव लघुवयस्का बालिका गतागतं कुर्वाणा दृश्यन्ते स्म। क्व यासीति पृष्टे सति ता उत्तरं ददतिस्म–अम्ब! अग्निं ग्रहीतुं गच्छामि। हन्त भो, दशपञ्चदशगृहान्वेषणानन्तरं क्वचित् षोडशे गृहेऽग्निरुपलभ्यते स्म। ब्राह्मणवसत्यपेक्षया निषादवसतौ नापितवसतौ

१. केवटों की बस्ती में
२. हैजा
३. प्लेग
४. कुकुरखाँसी।
५. दियासलाईति भाषायाम्।

वाऽग्निप्राप्तिस्सुकराऽसीत्। यतो हि ते सर्वेऽपि तमालपायिनः[१] आसन्। तत्रापि प्रायेण कृतककलहः सञ्जायतेस्म। भोः सर्वमप्यग्निं मा गृहाण। अग्निं चूर्णप्रायं मा कुरु। अस्मत्कृतेऽप्यग्निं मुञ्च। आत्मगृहे कस्मादग्निं न रक्षसि? इति प्रायेण श्रूयतेस्म।

प्रातरेवाग्नियाच्त्राऽपि लोकपरम्परादृष्ट्याऽपशकुनं मन्यतेस्म। अतएव न कोऽपि सहर्षं वह्निं प्रदातुमिच्छतिस्म। लघुवयस्का बालकास्तु प्रायेण निर्भर्त्स्य परावर्त्यन्ते स्म। अतएवाग्निमानेतुं कापि प्रौढैव महिला यातिस्म।

मम गृहस्य प्रतिष्ठैतावताऽपि काष्ठारूढाऽसीत् यतो ममैव गृहे दीपशलाकाऽसीत्। वस्त्रसीवनार्थं विविधाः स्थूलाः सूक्ष्माः सूचिका आसन्। ममैव गृहे सङ्कटकाले उपयुज्यमाना प्रकाशक्षेपिणी यन्त्रवर्तिका[२]ऽसीत्। किञ्च कर्तरी, सूत्रिकापूरणयन्त्रम्[३] आम्रकर्तनदरित्रम्[४] ओषधयः केचिन्नित्योपयोगिनश्चाप्यस्मद्गृहे एवोपलब्धा आसन्। वस्तुतः नगरोपकण्ठस्थिते मम मातृगृहे एतत्सर्वं संविधानकं नित्योपलब्धमासीत्। अतएव ममाग्रजस्तां सर्वां नित्यापेक्षितां सामग्रीं दूरवर्तिनि ग्रामे सर्वथा दुष्प्राप्यामेव मत्वा मह्यं दत्तवान्। द्विरागमने यदाऽहमत्रागतवती मत्पार्श्वे विंशतिमिता दीपशलाका आसन्।

मध्यमाज्जुकाया वार्तां श्रुत्वा सर्वा एव वध्वो हसितुं प्रवृत्ताः।

–मध्यमाज्जुके! कनिष्ठतमा वधूः भूयोऽप्यपृच्छत्। यदा भवती नगरं विहाय सर्वविधपश्चात्कृतं ग्राममिममागतवती तदा कीदृशमासीद् ग्रामस्य वातावरणम्?

–अयि चपलजिह्वे! अतीवोत्कण्ठिता दृश्यसे? अस्य ग्रामस्य ते महती चिन्ताऽवलोक्यते? किं करिष्यसि तत्सर्वं श्रुत्वा?

मध्यमाज्जुकाया मधुरभर्त्सनयाऽट्टहासस्समजायत महिलासम्मर्दे। अन्या वध्वो विविधां विकृतिं प्रदर्श्य कनिष्ठवधूं शातयितुं प्रवृत्ताः। तदवलोक्य मध्यमाज्जुका कनिष्ठतमां वधूमाकृष्य निजाङ्कपाल्यां कृतवती, तां बहुशः प्रचुम्ब्य चावदत्–सर्वमाख्यास्यामि। वत्से! यत्किञ्चिदपि जिज्ञासषे सर्वं कथयिष्यामि। यतो हि त्वमसि मम दुर्ललितपुत्रस्य पत्नी!

अन्या वध्वः प्रतिवादमकुर्वन्–मध्यमाज्जुके! इदमनार्जवम्। अयमन्यायः। किमस्माकं पतयो वराका न सन्ति दुर्ललिताः? कथमयं पक्षपातः क्रियते? नवागतेयमिति कृत्वा नाऽस्माभिर्गृहकार्येषु दृढं योज्यते। न महानसे पचति, न वा गृहसम्मार्जनं कुरुते। प्राघुण इव केवलं सायं प्रातर्भोजनं कृत्वा पर्यङ्कमुद्वेजयति। ततोऽपि भवत्याऽङ्कपाल्यामानीयोपलाल्यते? अब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यमिदम्।

---

१. तम्बाकू पीने वाले।

२. टार्च

३. सेवईं पूरने की मशीन

४. सरौता

–अय्यसहनशीलाः! अलं कल्कनेन। यो हि भर्त्स्यते स एवोपलाल्यते। किञ्च, लघिष्ठा भगिनीयं युष्माकम्। यच्च सौहृदं सौविध्यं यूयं कनिष्ठायै दत्थ तदेव यूयमपि स्वकीये पर्याये भुक्तवत्यःस्थ। तद्यदि युष्माकमनुमतं स्यात्तर्हि प्रत्नं किञ्चित्कथयानि?

मध्यमाज्जुकाया युक्तिं श्रुत्वैव कृतककलहो वधूनां शान्तो जातः, मध्यमाज्जुका वार्तां पुरस्सारितवती–श्रुत्वा हसिष्यथ यूयं यदितः पञ्चाशद्वर्षपूर्वं ग्रामेऽस्मिन् महिलानामतीव नैयून्यमासीत्। केवलमस्मिन्नेव पण्डितगृहे सर्वेऽपि भ्रातरो विवाहिता आसन्। अन्यथा, प्रतिवेशे ग्रामे च प्रतिशतं प्रायेणाऽशीतिमिता जना अगत्या ब्रह्मचर्यं निर्वहन्तिस्म। परिणय एव तस्मिन् समये जीवनस्य महत्तमोपलब्धिरासीत्। धनं प्रदाय, भूमिं प्रदाय, संविधानकान्तरं वा समाश्रित्य विवाहो जायेत, वंशश्चाग्रे सरेदित्येव समेषां प्रयत्न आसीत्। यस्या वध्वा द्वित्राः पञ्चषा वा भगिन्य आसन् तस्याःकुले, गृहे, ग्रामे महती प्रतिष्ठाऽसीत्। प्रसह्य तत्पत्या सह सम्बन्धं विधाय, तां च वधूं भ्रातृजाये–भ्रातृजाय इत्यसकृद् ब्रुवाणा विवाहार्थिनो युवकाः प्रतिवेशस्य दासानुदासवत् तत्समक्षं तिष्ठन्ति स्म। अनया दुष्करतपस्ययाऽपि केषाञ्चित्कामनासिद्धिर्जायते स्म। तदनवरतसेवाप्रह्वीभूता वधूः प्रायेण स्वपितरं सम्प्रेर्य अनुजाया विवाहं केनचिद्युवकेन सार्धं कारयतिस्म। ते च युवका आजीवनं तस्या वधूट्या अधमर्णाः दृश्यन्तेस्म।

तथाप्यदृष्टहरिद्रालेपानां शशशृङ्गीभूतोद्वाहसुखानां खण्डितवृत्तानां संख्या ग्रामे बृहती आसीत्। केषाञ्चित् सम्बन्धस्तु स्वगृहाभ्यन्तर एवाऽसीत् कयाचिद् विधवया सधवया वा सार्धम्। केचन निषादाभीरदलितवसतौ वा गुप्तगुप्तं रमन्तेस्म। केचन पुनर्धर्माधर्मविवेकमपि तृणीकृत्य पशुवज्जीवनं यापयन्ति स्म। यदाहमागतवती ग्रामं तदा बलजोरस्य महान् आतङ्क आसीत्। अस्य नाम्नैव कन्यका वध्वो युवत्यो वा कम्पन्तेस्म।

–अयमेव बलजोरः योऽधुना वृद्धो वर्तते? कदाचित्समायाति द्वारमपि? नितम्बं सञ्चालयन् नृत्यति महिलाः प्रभावयितुम्? ज्येष्ठा वधूरपृच्छत्।

–अथ किम्। अयमेव बलजोरः! महानयं नरपिशाच आसीत्। मृतकोऽयं नाऽमुञ्चत् स्वकन्यामपि। कदाचित्तां क्षेत्रे एकाकिनीमवाप्य तस्या मणिबन्धमग्रहीत्। श्रुतचरपितृपापकथा कतिपयवर्षपूर्वमेव परिणीता समवाप्तपतिसुखा कन्या राक्षसोपमस्य पितुः पापाचरणमिद-मवेक्ष्य कालभुजगीव रुधिराक्तनयना द्रागेव दुस्सहचपेटाघातेनैकेन तत्कपोलं बिम्बफलं कुर्वाणाऽभणत्–नीच! नासि त्वं जन्मदः पिता। रावणोऽसि। इतोऽग्रे श्वसुरालयं गत्वा, त्वयि जीवति, नाऽहं मातृगृहमुपावर्तिष्ये।

अन्येद्युरेव सा स्वाभिमानपरायणा कन्याऽनाहूताऽपि भ्रात्रा सह स्वपतिगृहं प्रस्थिता। मात्रा बहुशः पृष्टाऽपि न किञ्चिदवदत्। केवलं श्रावणमेघझरीमिव मुक्तास्थूलाश्रुपरम्परां न्यपातयत्। अकथितञ्चापि सर्वं तया स्फारतरं जातम्। सत्यमेव सा कन्या बलजोरे जीवति, भृशमनुरुद्धाऽपि मातृगृहमहोत्सवेषु नैवागच्छति।

पापिनोऽस्य भोगक्षुधाया नासीत्कोऽप्यन्तः। प्रतिवेशस्थां बालविधवां परमतपस्विनीं कलावतीमपि चिरं यावदयं नृशंसः शातितवान्। कलावती स्वभ्रातृव्यसंरक्षणे जीवनं यापयति। परन्तु कदाचित् प्रयोजनवशाद् भ्रातृव्ये बहिर्गते सा वराकी एकाकिनी जायते स्म। तमवसरमवेक्ष्य पापोऽयं बलजोरस्तद्वृषभं शङ्कुमुक्तं कृत्वाऽह्वयति स्म–अयि भोः वृषभः शङ्कुमुक्तोऽस्ति जातः। उत्तिष्ठ, बधान।

तदाह्वानं श्रुत्वाऽपि वराकी कलावती नायातिस्म द्वाराद्बहिः। यतो हि सा पापिनो बलजोरस्य कपटाचरणं सम्यक्तया जानातिस्म। सकृदपि तद्धस्तपतिताऽसौ न भविष्यति समर्था लोकं स्वमुखं प्रदर्शयितुम्। पशोः शङ्कुमोचनलीला बलजोरकर्तृकाऽग्रेऽपि प्रवृत्ता जाता, परन्तु धीमतीं कलावतीं संरक्षक इव साधु ररक्ष दृढनिरुद्धद्वारकपाटः।

।। २ ।।

–अज्जुके! अलं ग्रामवृत्तान्तैः। किञ्चिदस्य गृहस्य श्रावय। कनिष्ठाऽपृच्छत्। स्वगृहकथाऽपि मह्यमतितरां रोचते। मध्यमाज्जुकाऽवदत् सोल्लुण्ठम्–

–अहमेव कथं श्रावयानि? अस्य गृहस्य विषये तव ज्येष्ठाऽपि श्वश्रूर्जानाति, कनिष्ठापि। त एव प्रष्टव्ये।

–मध्यमाज्जुके! त्वद्घ्राण्यां यदमृतं वर्तते न तदन्यत्रोपलब्धम्। तव स्मृतिपिटके सर्वं सुरक्षितं तिष्ठति। ज्येष्ठाम्बा तु निमेषपूर्वमपि क्वचिन्निहितं वस्तु न परिचिनोति। सा वराकी पुरातनघटनाः किं श्रावयिष्यति? परन्तु तव स्मृतिर्विलक्षणा अज्जुके! गृहेऽस्मिन् कः कस्मिन् वर्षे, कस्मिन् मासे, कस्मिन् पक्षे, दिने, सन्ध्यायां, प्रभाते, निशीथे वा समुत्पन्नः इति सर्वं त्वमेवैका जानासि। ज्येष्ठा स्नुषावदत्।

–जानामि, जानापि युष्माकं कैतवं चातुर्यञ्च। मत्प्रशंसां कृत्वा मन्मुखादधरोत्तरं श्रोतुमिच्छथ। मध्यमाज्जुका सस्मितं प्रोक्तवती। तद् भणत, किं श्रोतुं ज्ञातुं वा समुद्विग्ना यूयम्?

–एतदेव मध्यमाज्जुके! यद् वधूभूय यदा भवती गृहमागता तदा कीदृशी आसीद् गृहस्थितिः? कीदृशमासीत् भवनमिदम्?

–शृणुत। मध्यमाज्जुकाऽकथयत्। अहन्तु अस्मिन्नेव गृहे समागता। तदा अस्माकमपि श्वसुरो जीवतिस्म। गृहमिदं तेनैव निर्मापितम्। वयं तिस्त्र एव वध्व आस्म। युष्माकं ज्येष्ठश्वसुरः महान् पण्डितो दीक्षागुरुश्चासीत्। तदर्जितधनेनैव अयं कूपो निर्मितः यस्य जलमिदानीमस्माभिः पीयते। प्राक् तु पिप्पलाधःस्थितकूपाज्जलमानीयते स्म। कदाचित् ज्येष्ठार्यस्नानार्थं जलमानेतुं स्कन्धहारः पिप्पलकूपं गतवान्। तेन निवेदितं यत्पण्डितवर्याणां स्नाने विलम्बो जायते। पूजाकार्यमपि स्नानं विना न सम्भविष्यति। तत्कृपया घटमेकं जलं निष्कासितुमवसरं देहि।

स्कन्धहारवचनं श्रुत्वैव ज्येष्ठार्यपाण्डित्यकीर्तिलोकप्रतिष्ठामत्सरी कूपस्वामी सव्यङ्ग्यमवादीत्–भो यदि एतादृशी त्वरा स्नानस्य, तर्हि कथं न ते स्वामी स्वयमेव कूपं खानयति? मयि स्नाते एव जलं ग्रहीष्यसि। श्रुतं न वा?

किं कुर्याद् वराकः स्कन्धहारः? जलमादाय महता विलम्बेनागतः। स्वामिना पृष्टे सति विलम्बकारणं सर्वमाख्यातवान् यथायथम्। तच्छ्रुत्वैव सन्दीप्तहृदयाग्निः ज्येष्ठार्यः घटजलं निम्बतरुमूले समुदवर्तयत्। नद्यां स्नानं कृत्वा पूजां निर्वर्तितवान्। परन्तु भोजनं नाग्रहीत्। तच्छ्रुत्वैव मध्यमकनिष्ठश्वसुरौ समुद्विग्नौ जातौ। कर्णात्कर्णं प्रसरन्तीयं वार्ता आभीरपल्लीमुपगता। जल्लूनामाभीरमुख्यो दीक्षितशिष्य आसीज्ज्येष्ठार्यस्य। यावदेव श्रुतं तेन यद् गुरुर्महाराजस्त्यक्तभोजनस्तिष्ठति स परशुहस्तैः कुटिम्बिभिस्सार्धं झटित्यागतवान्। जलोचितभूमेरन्वेषणमभूत्। कूपखननञ्च प्रारब्धम्। तृतीयदिवस एव कूपेऽस्मिन् अपारजलराशिः पुञ्जीभूतः। पञ्चदिवसैरेव जलं निर्मलं पेयञ्च जातम्।

पश्चाच्च ज्येष्ठार्य एव क्षेत्रसेचनार्थंमपरमपि कूपद्वयं निर्मापितवान्। युष्माकं श्वसुरेषु विलक्षणा प्रीतिरासीत् यदिदानीमपि तथैव विलसति। ज्येष्ठभ्रातरं कनिष्ठसहोदरावुभावपि साक्षाद् भगवन्तमेवामन्यताम्। सोऽपि समग्रमपि गृहस्वामित्वं सहोदराभ्यां समर्प्य निश्चिन्त आसीत्। मानसम्मानलोकप्रतिष्ठासदाचरणादिदृष्ट्या परिवारोऽस्माकं समग्रेऽपि ग्रामे महीयतेस्म। तथापि कृषिसम्पद्दृष्ट्याऽभावोऽप्यासीत्। प्रायेण वर्षोपभोगयोग्यमन्नजातं क्षेत्रेभ्यो न प्राप्यते स्म। एवं सत्यादीयतेस्म भक्ष्यान्नं तत्सपादाधिकनिर्यातनं पणीकृत्य। चैत्रमासे नवाऽन्ने गृहमुपागते सति पूर्वगृहीतमन्नमपि निर्यात्यते स्म। परन्तु एषा स्थितिरत्र ग्रामे प्रायेण गृहे–गृहे आसीत्। अस्माकं गृहे तु कृषिकार्यपटुर्जन एव नासीत् कोऽपि। महापण्डितो दीक्षागुरुर्ज्येष्ठार्यस्तु गृहाद्बहिरिव तिष्ठति स्म। तव मध्यमश्वसुरोऽपि पौरोहित्यवशात् नितरां लोकधर्मकार्येष्वेव व्यापृत आसीत्। तृतीयो युष्माकं कनिष्ठश्वसुरस्तु प्रकृत्यैव कोमलो रसिकस्वभावः गोष्ठीबन्धाभ्यस्तोऽग्रजयोश्च द्वयोर्दुर्ललितो न कथमपि कृषिकार्ये मनः कुरुते स्म। तत्सामान्यश्रमेण यत्किमप्यन्नं क्षेत्रेषु प्रादुर्भवतिस्म तेनैव कुटुम्बपोषणं भवतिस्म। तथापि नासीत्कष्टं किमपि भोजनपानयोः।

गृहे एका दोग्ध्री महिष्यासीत्। चत्वारो वृषभा आसन् क्षेत्रकर्षणार्थम्। गृहं समागते ज्येष्ठार्यस्य वडवाऽपि श्यामानाम्नी पशुपरिवारेणाऽनेन संयोज्यतेस्म।

दुग्धेन दधि, दध्ना च तक्रं निर्मीयते स्म। गाढतरं तक्रं पुरुषेभ्यो दीयतेस्म। ततश्चावशिष्टे तक्रे भूयोऽपि जलं सम्मेल्य, अस्माभिर्महिलाभिः पीयतेस्म।

प्रथमं तावद्वयं तिस्र आस्म। पश्चाज्ज्येष्ठा स्नुषा समागता, तदनु च मध्यमा। शनैः शनैः यूयं सर्वा अपि समागताः। सम्प्रत्यपि द्वे स्नुषे प्रतीक्ष्येते। अद्भुतं सुखं दत्तमस्मभ्यं युष्माभिः। यतो हि युष्माकमागमनेन वयं सर्वा अपि आभ्यन्तरकक्षेभ्यो बहिष्कृताः।

१. सवाई अधिक लगाकर लौटाने की शर्त पर।

अस्माकं खट्वाः सम्प्रति बहिरलिन्दे विलसन्ति। इत्युक्त्वैव निर्भरं जहास मध्यमाज्जुका। सर्वमपि वातावरणं हर्षमयं जातम्।

आभ्यन्तरेऽलिन्दे पूर्वभित्तिं निकषासीत् पेषिणी। पश्चिमभित्तिं निकषाऽस्तां कण्डिनी-लघुपेषिण्यौ। ब्रह्मवेलायामेव तव कनिष्ठाज्जुका ज्येष्ठस्नुषया सह बृहत्पेषिण्या यवं गोधूमं वज्रान्नं वा पिनष्टिस्म। यावदेकं युग्मं पिनष्टिस्म तावदेवापरं युग्मं कण्डिन्यां मुशलाभ्यां श्यामाकं कुट्टयति स्म। तृतीया च कापि लघुपेषिण्या चणकमाढकीं वा द्विदलयति। एवमाचरन्तीनां गृहरमणीनां सुमधुरगीतिकाभिर्निखिल एव प्रतिवेशो गुञ्जित इव जायते स्म। सर्वासामेव कण्ठेऽमृतोपमं माधुर्यमासीत्।

युष्माकं कनिष्ठश्वसुरस्तु प्रकृत्यैव रसिकः सहृदयोत्तमः कुटुम्बहृदयानुरञ्जकः परिहासपेशलश्चासीत्। सोऽपि कण्डिनीं लघुपेषिणीं वा रिक्तामवलोक्य, शाटिकया कदाचिन्नारीवेषं विधाय, निभृतनिभृतं गृहाभ्यन्तरं प्रविश्य कण्डनपेषणमभिनयन् कौतुकमाचरति स्म। कनिष्ठाज्जुकया पृष्टे सति स नारीकण्ठस्वरेणैवात्मानं प्रतिवेशिनीमाख्याय स्वयमपि गीयमानं गीतमेवाऽनुकुरुतेस्म। परन्तु प्रकटिते सति पुरुषकण्ठे तस्य भाण्डं स्फुटितमजायत। हन्त, तावताप्यसौ बहिर्गन्तुं नोत्सहते स्म। सर्वाः गृहस्त्रियः पुञ्जीभवन्तिस्म, तञ्च रमणीभूतं दृष्ट्वा साट्टहासं प्रमोदमनुभवन्तिस्म।

परन्तु यावदेव युष्माकं कनिष्ठाज्जुका निर्भर्त्सनं नाटयन्ती कमपि प्रेरयतिस्म मध्यमश्वसुरं मां वाऽऽह्वातुं तावदेवाऽसौ भयविगलितशाटिको बहिः पलायते स्म। वत्साः! इदानीं वयं वृद्धाः सञ्जाताः। परन्तु नित्यानन्दकुतूहलानां तेषां व्यतीतदिवसानां मधुस्मृतयोऽद्यापि चित्तमान्दोलयन्ति। नागपञ्चमी, कजरी, हरतालिका, जन्माष्टमी, दशहरा, होलोत्सवः नवान्नपर्व, नवरात्रद्वयं, शिवरात्रिः, विविधा एकादश्यः। हन्त! पर्वणां महोत्सवानामविच्छिन्नाऽसीत्परम्परा, यया समग्रोऽपि ग्रामः संस्फुरितहृदयः परिलक्ष्यतेस्म।

गृहे द्वित्रा नियताऽगन्तार आसन्। ते सम्प्रत्यप्यागच्छन्त्येव। सर्वेऽपि ते समृद्धगृह-सदस्या आसन्। अतएव न दैन्यबुभुक्षावशादपितु प्रीतिभक्त्यनुरक्तिवशादेव ते समये-समये गृहमागच्छन्तिस्म। तत्रैक आसीन्नदीपारीणो जमुनामिश्रो यस्य सख्यमासीत्क-निष्ठश्वसुरेण सार्धम्। स प्रायेण सन्ध्याकाले समागत्य, रात्रिभोजनं कृत्वा विश्रम्य, प्रभातायां रात्रौ स्वभजनगीतैः सकलमेव ग्रामं यावत्कण्ठध्वनिप्रसारं रञ्जयित्वाऽपरेद्युः पूर्वाह्णे स्वगृहं गच्छतिस्म।

आभीरकुलोत्पन्नो बरनभक्तो ज्येष्ठार्यस्य दीक्षितः शिष्य आसीत्। स खलु स्वक्षेत्रोत्पन्नं कमपि शाकमादाय प्रातरेव समायाति स्म। सोऽपि मध्याह्नभोजनं निर्वर्त्य गच्छतिस्म।

तृतीयाऽसीत् स्वग्रामस्यैव निषादवसतेर्मुख्यवृद्धा झारीति। साऽपि पलितकेशा वार्द्धक्यवलीनिचयमण्डितकपोला मन्ददृष्टिः स्खलितगतिः निर्दन्तवृद्धा प्रीतिसमादरवशादेव

दण्डसाहाय्येन गृहमायातिस्म। सा प्रायेण गृहमागत्याऽन्तः प्रविश्य क्वचित्स्थिरा निषीदति स्म। ततश्च स्वजनोचिता तदुपचर्या प्रारभ्यते स्म।

–झारि ! किञ्चित् खादिष्यसि? अहमपृच्छम्।

–अये भाग्यवति ! गुरुगृहस्यान्नं भुङ्क्त्वा वार्द्धक्येऽस्मिन् पापमाचरिष्यामि? न न, नैव खादिष्यामि। झारी वदतिस्म।

–आर्ये ! अद्य तव स्नुषया निर्मितमतीव स्वादु रुक्कवचं[१] माषद्विदलं पिष्ट्वा। श्यामाकभक्तमपि[२] वर्तते।

–तद्भाग्यवति ! यथा रोचते भवत्यै। गुरुप्रसादं मत्वा खादिष्यामि। वृद्धा झारी सौजन्याभिनयं खलीकृत्य भोजनप्रस्तावं सहर्षं स्वीकरोति स्म। भोजनं सम्पाद्य, स्वयमेव च पात्राणि सम्मार्ज्य, विश्रम्य कुशलवार्तां च संगृह्य सा शनैः शनैः स्ववसतिं गच्छतिस्म।

चतुर्थी पञ्चमी चेति वध्वौ किञ्चित्कैतवं समाचरन्त्यौ परिलक्षिते। तयोरस्फुटालापं श्रुत्वा मध्यमाज्जुका किञ्चित् षड्यन्त्रमाशङ्क्य प्राह।

किं रे ! कियत्कालं यावद्रामकथामिमां श्रावयिष्यामि? नाद्यापि ते तृप्तिः? किमयं मिथः कर्णोपजापो विधीयते?

–मध्यमाज्जुके ! किञ्चित्सङ्गोप्य वर्णयसि। कनिष्ठा स्नुषाऽवदत्।

–मूढे ! किं गोपितं मया? न मया कोऽपि ग्रन्थो वाच्यते। यद्यत् पुरातनं वृत्तं स्मृतिपथमायाति तत्तन्मयाऽख्यातम्। यदि किमप्यवशिष्टं स्यात्तर्हि त्वमेव स्मारय। मध्यमाज्जुकाऽकथयत्।

–मध्यमाज्जुके ! किमासीत् तत् खटरपटरकाण्डं खट्वाकाण्डञ्च? मुग्धताम-भिनयन्ती कनिष्ठाऽपृच्छत्।

नवागतवध्वा वचनं श्रुत्वैव निखिलेऽपि महिलामण्डलेऽट्टहाससमुद्र एव कश्चित्तरङ्गितो जातः। द्वितीयतृतीयवध्वौ, याभ्यां सह काण्डद्वयमिदं सम्बद्धमासीत् तेऽपि निरर्गलमहसताम्।

–सत्यं ब्रूहि। कया सङ्केतिताऽसि? मध्यमाज्जुकाऽपृच्छत्।

तावदेव चतुर्थी स्नुषा व्याजेन स्वकक्षे प्रविष्टा। स्पष्टं जातं यत्तयैव काण्डमिदं प्रकाशयितुं प्रेरणा प्रदत्ता कनिष्ठायै। परन्तु का नु गतिः? प्रसङ्गस्त्विदानीमुपन्यस्त एव। मध्यमाज्जुका किं कुर्यात्?

तावदेव द्वितीया स्नुषा स्वयमवादीत्–अम्ब ! निस्सङ्कोचमाख्याहि। अस्मिन् गृहे कस्याः किं वृत्तं कस्या वा गोपितम्? सर्वाः सर्वासां विषये सर्वमपि जानन्ति।

---

१. रिंकवच इत्यवधीभाषायाम् (सालन)   २. सावाँ का भात भी।

किञ्च, आत्मनीनमिदं वृत्तं भवत्यै अपि आवाभ्यामेव निवेदितमासीत्। तत्कनिष्ठामपि ज्ञापयितुं न कमपि दोषं पश्यामि। इयं वराक्यतितरां सेवतेऽस्मानिति कृत्वाऽपि अस्या आकाङ्क्षा पूरणीयैव।

–पश्य कनिष्ठे! मध्यमाज्जुकाऽकथयत्। त्वमसि दशमकक्षोत्तीर्णा। अग्रेऽपि ये द्वे प्रतीक्ष्येते ते भविष्यतः बी०ए०, एम्०ए० वा परीक्षोत्तीर्णे। समयस्तीव्रगत्याऽग्रेसरति परिवर्तते च। इदानीं दम्पत्योः सहावस्थानं सहगमनं न निवार्यते। परन्त्वस्माकं समये तु महिलायाः प्रतिबिम्बमपि पुरुषो नाऽपश्यत्। अतएव समन्वितकुटुम्बे नवविवाहितयोर्युग्मयो रहोमेलनमेव सर्वथा दुष्करमासीत्। पितृभ्यां गोपनं, सहोदरेभ्यो गोपनं, बालकेभ्यो गोपनम् अस्माद् गोपनं, तस्माद्गोपनम्। हन्त गोपनप्रयासे एवास्मिन् सर्वाऽपि शक्तिः क्षीयते स्म दम्पत्योः।

परन्तु पत्युरामन्त्रणं भार्याधीनमेवाऽसीत्। सैव समुचिताऽवसरमवेक्ष्य, प्रसुप्ते सति सकलपरिजने, दत्तपूर्वसङ्केतं कान्तमानयतिस्म स्वकक्षम्। एवं हि, रात्रिं यावत् मिथस्सङ्गसुखमवाप्य, यथारुचितमालप्य प्रभातात्पूर्वमेव पतिः कक्षाद्बहिरायाति स्म। इयमासीत् तदानीन्तनी मर्यादोत्तममध्यमवृद्धनिचिते कुटुम्बे।

अस्माकं द्वितीयपुत्रः परमशिक्षितो नव्यदृष्टिः सभाचतुरो विद्वांश्चेति न कोऽपि सन्देहः। तथापि नासौ गताऽनुगतिको हीनभावनाग्रस्तो वा। अतएव पत्नीसङ्गमनस्यायं चौरविधिर्न तस्मै मनागप्यरोचत। स वधूकक्षमुपगतः काष्ठपादुकामेव पादयोर्विन्यस्य। यदासौ वधूकक्षं गतवान् तत्पादुकायाः 'खट्ट-पट्ट, खट्ट-पट्ट' ध्वनिभिः सर्वेषामेव गृहान्तर्वर्तिनां लोचनान्युन्मीलितानि। अकथितञ्चापि सर्वं स्पष्टं जातम्।

प्रभाते सति, द्वितीयां वधूमभिलक्ष्य सर्वा एव स्मितकं जनयन्तिस्म। वधुके! तमासीत् त्वयाऽपि किञ्चित्कथितं न वा? मध्यमाज्जुकाऽपृच्छत्।

–अम्ब! अहमपि तेन पादुकाशब्देन त्रपाविगलिताऽसम्। समागतमात्रमेव तमहमपृच्छम्–भोः किमिदम्? अनेन पादुकाखटत्कारेण तु सर्वेऽप्युन्निद्राः स्युः। प्रभाते सति कथमम्बाभिस्सह चातुरक्षिकं विधास्ये।

–देवि! स्वपत्न्याः सङ्गमने को नु सङ्कोचः? मयैतन्न विचारितम्। तथाप्यग्रे नैवमाचरिष्यामि इत्येवं मां भवत्पुत्रः सान्त्वयतिस्म।

इदानीमवसिता गोष्ठी। प्रस्थातव्यमस्माभिः। इति भणन्ती तृतीया स्नुषोदतिष्ठत्। तामकस्मात्तथाऽचरन्तीमवेक्ष्य सर्वाः हस्तग्राहं तां समुपवेश्य दृढं निगडितवत्यः। अट्टहासोऽपि प्रासरत्।

–चतुरे! सर्वासां वृत्तं निपीय, समागते सत्यात्मपर्याये प्रस्थिताऽसि? मध्यमाज्जुकाऽवदत्सोल्लुण्ठम्। वास्तविको रसस्तु तवैव कथायां वर्तते। आत्मनोऽपि चरितं श्रुत्वा, यथासुखं गच्छ।

–मध्यममाज्जुके ! मा प्रकाशय। पादौ स्पृशामि। वदनं मा व्यादेहि। शापिताऽसि मत्प्राणैः। कनिष्ठां मा ज्ञापय। वधूर्न्यवेदयत्।

–साधु साधु। नाख्यास्यामि। गच्छ तावत्। मत्कृते शीतलं भृङ्गाररक्षितं जलमानय। तावदहं तूष्णीमेव स्थास्यामि।

मध्यममाज्जुकाज्ञप्ता तृतीया वधूर्जलमानेतुं गता। परन्तु तदागमनात्प्रागेव मध्यममाज्जुका महिलामण्डलं विदितवेदितव्यं कृतवती।

–इयं वराकी रात्रौ गृहकार्येभ्यो विलम्बेन मुक्ताऽभूत्। शान्ते जाते भवने, प्रसुप्ते प्रसुप्तप्राये वा गृहसदस्यनिवहे स्वकान्तमानेतुमियं बहिर्द्वारमागता। तत्र समीपस्थ एव पर्यङ्कद्वये क्रमेणास्याः पतिः ज्येष्ठार्यश्चास्याः शयाते स्म। बहुशः प्रयत्नपराऽपि स्वकान्तमपरिचिन्वानेयं भ्रान्तिवशाज्ज्येष्ठमेव प्रबोधयितुमुपाक्रमत्। गभीरनिद्रामग्नो ज्येष्ठो यावदेव सहुङ्कारमुत्थाय तथ्यं ज्ञातुमचेष्टत, तावदेवेयं वात्यागत्या प्रपलाय्य गृहाभ्यन्तरं प्रविष्टा। पश्चात् मिष्टान्नं वितीर्य ज्येष्ठस्पर्शपातकस्य प्रायश्चित्तमपि कृतवती।

इदं वृत्तं श्रुत्वैव सर्वाः स्त्रियोऽट्टहासमुखरा अभूवन्। तावदेव जलमादाय समागता वधूरपि। तदवस्थाः सर्वाः अवलोक्य ज्वलदङ्गारसन्निभलोचनाभ्यां मध्यममाज्जुकां पश्यन्ती प्रोक्तवती–मध्यममाज्जुके ! त्रोटितश्शपथो भवत्या। सप्ताहं यावन्न ते चरणौ संवाहयिष्यामि। इति भणन्त्यपि सा स्मितकं चकार।

–वत्से ! क्षन्तव्याऽहम्। यथा तपोबलेन भगीरथो गङ्गां प्रसह्यावातारयद्धरणितलम्, तथैवेमाः सर्वा अपि मन्मुखात्तव रहस्यापगां निष्कासितवत्यः। परन्तु यदभूत् तत्साध्वभूत्। नेदानीं कनिष्ठा त्वामुद्वेजयिष्यति खट्वाकाण्डं पृष्ट्वा।

मध्यममाज्जुकायाः पुत्री हेमावती तावदेव कुटीराद् गृहमागत्य सूचितवती–अम्ब ! तातपादस्समागतः। त्वामाह्वयति।

उत्तस्थौ मध्यममाज्जुका।

रचनाकालः
१९.०६.२००९ ई०।

•

छिन्नमस्ता

विश्वेश्वरः प्रतिनवरात्रं विन्ध्याचलं गच्छतिस्म। इयमासीत्तस्य कुलपरम्परा यां सम्यक्तया निरवहन् पितृपितामहास्तस्य। नवरात्रोत्सवात्प्रागेव विश्वेश्वरः नवदिवसीयं भोजनदिप्रबन्धं विधाय, पूजानुष्ठानादिवस्तुजातं सङ्कलय्य विन्ध्याचलमायातिस्म। निवासप्रबन्धस्तस्य स्वतीर्थपुरोहितभवन एवाऽसीत्। तीर्थपुरोहितस्य पण्डितरामसुन्दरस्य सर्वेऽपि कुटुम्बिनः परिचिता आसन्। अतएव विश्वेश्वरागमनात्प्रागेव तत्कक्षः समार्ज्य सम्प्रोञ्छ्य संस्क्रियते स्म। कक्षे भोजननिर्माणोपकरणानि स्थालीपिठरकटाहीदर्वीसन्दंश-मल्लकादीन्यपि निधीयन्तेस्म। पाण्डुमृत्तिकयोपलिप्य चुल्ल्यपि नवीक्रियते स्म। विश्वेश्वरे समागत एव मातृकल्पा पुरोहितपत्नी स्वयमागत्य सर्वं प्रबन्धं प्रदर्शयन्ती तस्मै कक्षार्गलायाः कुञ्जिकां समर्पयति स्म।

ऐषमोऽपि चैत्रनवरात्रे विश्वेश्वरो यथासमयमेव समागतः। सर्वोऽपि प्रबन्धः पूर्ववदेवाऽसीत्। गृहस्वामिनी तदागमनं श्रुत्वैव सत्वरमागच्छत् कक्षकुञ्जिकाञ्च प्रयच्छन्ती प्रावदत्–'वत्स! त्वत्कृते चायचषकं प्रेषयामि। तन्निपीयैव स्वकीयं कार्यक्रमं प्रारभस्व।'

तत्रत्यः कार्यक्रमो विश्वेश्वरस्य नवरात्रपर्यन्तं सर्वथा निश्चित एवासीत्। ब्रह्मवेलायामेव समुत्थाय समुद्धृतकपाटस्य मृडानीमन्दिरस्य बहिस्त एव दर्शनम्। ततश्च सोपानानि शतमितान्यवतीर्य गङ्गातट आगमनम्। नौकया भगवतीं भागीरथीं पारयित्वा, नद्याः परे पारे शौचादिनिवृत्तिः। तत्रैव स्नानं सन्ध्यावन्दनं पितृतर्पणम्। ततश्च भूयोऽपि नौकया भगवतीं गङ्गामवतीर्य स्ववासकक्षागमनम्।

एतदनन्तरमेव प्रारभ्यते स्म तस्य दुर्गासप्तशतीपाठः। पाठं परिसमाप्य विश्वेश्वर आवासमागत्य यथारुचि भोजनं पचतिस्म। ततश्च होराद्वयं यावद् विश्रम्य पुनरपि हस्तमुखादिकं प्रक्षाल्य, पार्श्ववर्तिन्यापणे शुद्धं सात्त्विकमल्पाहारं गृहीत्वा पर्यटतिस्म। पदातिरेव प्रचलन्नसौ त्रिकोणपरिक्रमां प्रत्यहं सम्पादयतिस्म विन्ध्यधामक्षेत्रस्य। विन्ध्याचलनगरात् प्रस्थायाऽसौ कालीखोहाख्यं तन्त्रसाधनाक्षेत्रं गच्छतिस्म। सिद्धक्षेत्रमिदं दिवसकालेऽपि दारुणानुभवसम्पन्नं भयावहं साध्वसोत्पादकञ्च प्रतीयते स्म। ततोऽपि प्रस्थायाऽष्टभुजाक्षेत्रं चिरं यावत्पर्यट्य भगवत्या अष्टभुजाया दर्शनं कृत्वा विश्वेश्वरः शनैः शनैः कण्ठस्थीकृतकवचार्गलाकील-ककुञ्जिकामन्त्रान् जपन् निजावासं प्रत्यावर्तते स्म।

सान्ध्यकालेऽपि विश्वेश्वरः सूर्यास्तङ्गमनात्प्रागेव गङ्गास्नानं सम्पाद्य, भगवत्या दर्शनं कृत्वा स्वकक्षमागत्य भोजनं पचतिस्म। ततश्च भगवत्या विन्ध्यवासिन्याः शयननीराजनां दृष्ट्वा निर्भरं स्वपितिस्म।

एवमाचरतो विश्वेश्वरस्य व्यतीतं दिनद्वयम्। सर्वोऽपि धार्मिककार्यक्रमः सम्यक्तया प्रचलन्नासीत्। मन्दिरप्राङ्गणे शक्त्युपासनानिरतानां साधकानां तान्त्रिकाणां पुरश्चरणसम्पादकानां

गृहीतव्रतशपथादिपूरकाणां पण्डितानां महान् सम्मर्द आसीत्। प्रतिवर्षं प्रतिनवरात्रमागन्तॄणां तु परिचयो घनीभूत आसीदेव। नव्यवयसोऽपि केचन, लब्धयशसां शक्तिसमुपासकविदुषां वात्सल्यमवाप्तुं प्रयत्नवन्तो दृश्यन्ते स्म। अतएव सप्तशतीपाठसम्पूर्त्यनन्तरं लब्धावकाशास्ते पारस्परिकं परिचयसूत्रं दृढीकुर्वाणाः कालं नयन्तिस्म। केचन नवयुवकास्तु प्रख्यातपण्डितवंशधरा आसन्। केचन मिथिला-क्षेत्रात्समागताः, केचन सरयूपारीणाः, केचन व्रजवासिनः, केचन चित्रकूटनिवासिनः, अन्ये च बहवो वाराणसेयाः। एवं हि नवदिवसपर्यन्तं तत्र सकलमेव राष्ट्रं पुञ्जीभूतं संलक्ष्यते स्म। अन्तिमे दिवसे सर्वेऽपि साधकाः सम्भूय हवनकुण्डे पूर्णाहुतिं सम्पादयन्तिस्म।

तृतीयदिवसे पौर्वाह्णिकं पाठं निर्वर्त्य, भोजनादिकं सम्पाद्य विश्रम्य च विश्वेश्वरस्त्रिकोणपरिक्रमार्थं कक्षान्निष्क्रान्तः। वीथीमार्गोऽतीव सङ्कीर्ण आसीत्। तथापि जनानां गतागतं तु नक्तन्दिवं प्रावर्ततैव, यतो हि सैव वीथी राजमार्गं यावदायातिस्म। विश्वेश्वरोऽपि नित्याभ्यस्तया तयैव वीथ्या निश्चिन्तमना अग्रेससार। परन्त्वकस्मादेव दृष्टं तेन यत्सन्धिनीं कामपि धेनुं प्रद्रुतामनुसरन् भीमकायः कश्चिद्वृषभो वृषभान्तरानुगतः कामोन्मत्तः रत्यसम्पूर्तिसञ्जातरोषकषायितमनाः सम्मुखमापतति।

अतिविकटाऽसीत् स्थितिः। हस्तपादौ समुच्छ्वसितौ विश्वेश्वरस्य। किं कुर्यादसौ वराकः? वामे दक्षिणे, क्वापि नासीत्स्थानमपसरणस्य निगूहनस्य वा। कथमात्मानं रक्षेद् विश्वेश्वरः? पशूनां को नु विश्वासः? सोऽपि वृषभो नासीत्प्रकृतिस्थः। मैथुनार्थिनस्तस्य सर्वाण्यपीन्द्रियाणि विकृतान्येवासन्। इदानीं किञ्चिदपि कर्तुं चिन्तयितुं वा नासीच्छक्यम्। विश्वेश्वरः सम्पिण्डिताङ्गो भगवतीं विन्ध्यवासिनीमेव शूलेन पाहि नो देवि पाहि खड्गेनेति मन्त्रैरनुस्मरन् कस्मिंश्चिद् भित्तिकोणे निलीयेवातिष्ठत्। तावदेव धावन्तीं धेनुमनुगच्छन् पर्वताकारो रक्तप्रतान्तनयनः फेनसंहतिधवलप्रोथो मन्दधावनदोलायितककुत्पीठो धृतविग्रहो मृत्युदूत इव बलीवर्दोऽसौ नेदिष्ठोऽभूत्। विश्वेश्वरं प्रत्यक्षप्रत्यवायभूतं मन्वानोऽसौ जाल्मस्तमकस्मादेव लघुलोष्टकमिव उपरि समुच्छालितवान् वामनविषाणाभ्यां, समतिक्रम्य च तत्स्थानं धेनुदिशाऽग्रेससार। विश्वेश्वरोऽपि वृषभसमुच्छालनवशात् पाषाणनिर्मितभवनच्छर्दिं निर्भरं प्रतिहत्य शर्करिलवीथीभूमौ न्यपतत्। रक्तरञ्जितं जातं तस्य शिरः। द्वित्रान् क्षणान् यावदसौ सर्वं स्मृतवान्। ततश्चासौ मूर्च्छितो जातः।

अल्पावधावेव निखिलेपि विन्ध्याचलोपनगरे घटनेयं कर्णात्कर्णं मुखान्मुखं प्रसरन्ती व्याप्ताऽभूत्। सर्वत्रापीयमेव चर्चा। हन्त, को नु खल्वासीदसौ? कुतः समायातः? कश्चिद्दर्शनार्थी आसीन्नवरात्रसाधको वा? भद्र! कीदृशी वर्तते तस्य स्थितिः? तत्कुटुम्बिनो विदितवृत्ता न वा? हे जननि! हे भगवति! रक्ष स्वभक्तम्। अन्यथा कलङ्कितैव भविष्यति तव कीर्तिः। इत्येवमालपन्तो जनाः प्रत्यापणं, प्रतिमार्गं,प्रतिस्थानञ्च समदृश्यन्त।

तीर्थपुरोहितः पण्डोपनामा रामसुन्दरस्तु सपरिवारः प्रागेव घटनास्थलमाससाद। स एव विश्वेश्वरं प्रत्यभिज्ञाय, पार्श्ववर्तिन्यौषधालये तमानाय्य प्राथमिकोपचारं कारितवान्। परन्तु केन्द्रे तस्मिन्नियुक्तो मुख्यभिषक् विश्वेश्वरं मीरजापुरस्थं जनपदौषधालयं नेतुं परामर्शं दत्तवान् अवदच्च-भो शीर्षे महत् क्षतं वर्तते। शल्यक्रियया विदीर्णचर्मणस्संयोजनमावश्यकम्। क्षतवशात्प्रभूत-रुधिरमपि बहिरागतम्। रक्तनैयून्यवशादनवबोधस्वापोऽपि (Comma) सम्भवति। तर्ह्यलं प्रमादेन। त्वरितमेव जनोऽयं तत्रैव नेयो रुग्णयानेन।

एतत्सर्वं श्रुत्वैव रामसुन्दरो भयभीतोऽभूत्। सुपरिचितयजमानपरिवारस्य सदस्योऽयम्। यदि किञ्चिदधरोत्तरं जातं तर्हि मुखमपि दर्शयितुं न शक्ष्यत्यसौ। दूरवर्तिफैजाबादजनपदस्थग्रामात्समागतोऽयं युवकः। न तावदिदानीमेव सूचयितुं शक्यते। यदि श्वस्तने प्रभातेऽपि कश्चित्सन्देशहरः प्रतिष्ठेत तर्हि सन्ध्यां यावत्तस्य ग्राममासादयितुं शक्नुयात्! हे प्रभो! हे भगवति! किमिदमापतितम्? किं करवाणि?

इत्येवं चिन्तयत्येव रामसुन्दरे तस्य श्यालको रामदत्तोऽपि सपत्नीकस्तत्र समागतः। रामसुन्दरस्य यजमानः कश्चिद् बलीवर्देन क्षतविक्षतो विहित इति निशम्यैवाऽसौ द्रुतपदैरागतवान्। रामदत्तं दृष्ट्वैव रामसुन्दरो रोदितुं प्रवृत्तः। रामदत्तस्तं प्रबोधयन् अवदत्-

-अये भ्रातः! रोदिषि कथम्? न भवता किञ्चिदत्र कृतम्?

-बन्धो! न भवान् जानाति मम रोदनकारणम्। युवकोऽयं न सामान्ययजमानः कश्चित्। अयं हि अस्मत्कुटुम्बिभ्योऽप्यधिकप्रेष्ठो मत्कृते। तस्मादेव व्यथादीर्णोऽस्मि।

-एवम्? वर्धते मे कुतूहलम्। कोऽयम्?

-अयमस्ति फैजाबादजनपदस्थकटहरीग्रामवासिनः पण्डितमहेश्वरस्य पुत्रः। अनेन परिवारेण सार्धमस्माकं पितृपितामहानामपि घनिष्ठस्सम्बन्धो वर्तत इत्यहं यजमानपञ्जिकयैव जानामि। अयं पण्डितपरिवारोऽखिलेऽपि जनपदे प्रसिद्धेः परां काष्ठामधिरूढः। अस्य युवकस्य तातपादो महेश्वरः, महेश्वरस्याप्यग्रजो रामेश्वरः अन्ये च कुटुम्बिनो यदापि विन्ध्याचलमायान्ति, ममैवावासे निवसन्ति। अतएव युवकोऽयं ममापि पुत्रकल्प एव।

युवकपरिचयं श्रुत्वैव रामसुन्दरस्य श्यालपत्नी पतिमन्यत्र समाकृष्य काञ्चिद् वार्तां कृतवती। ततश्चोभौ भूयोऽपि समीपमागतवन्तौ।

-किमियं भणति? सोत्कण्ठमपृच्छत् रामसुन्दरः।

-इयमपि तं परिवारं सुष्ठु जानातीति वक्ति। तस्मिन्नेव परिवारे काचित्स्वसाऽस्याः परिणीता। तस्मात् परिचिनोतीयं तं लब्धप्रतिष्ठं कुटुम्बम्। भ्रातः! परामृशतीयं यदयं युवकस्सत्वरमेव जनपदौषधालयं नेतव्यः। व्ययस्य चिन्ता न करणीया। तत्सर्वमस्मत्पक्षत एव करिष्यते। किञ्च, प्रातरेव कश्चित्सन्देशहरोऽपि ग्रामेऽस्य प्रेषणीयः।

तत्सर्वं श्रुत्वा रामसुन्दरोऽपि समाश्वस्तो जातः। विश्वेश्वरस्तच्छ्यालपत्न्या अपि सम्बन्धीति विज्ञाय तत्परितोषो द्विगुणीभूतः। ततश्च रुग्णवाहनेन सर्वेऽपि मीरजापुरस्थं जनपदौषधालयं गतवन्तः। तत्कालमेव सर्वोऽप्युपचारप्रबन्धो निर्व्यूढः।

।।२।।

सप्ताहं यावद् विश्वेश्वर औषधालये न्यवसत्। शल्यक्रियादक्षा भिषजः पञ्चस्थानेषु विदीर्णं शीर्षचर्म स्यूतवन्तः। ततश्च तच्छरीरानुकूलं रक्तमपि तद्वपुषि निवेशितवन्तो येन बहिर्गतरुधिरनैयून्यं पूर्णं जातं, चैतन्यमपि तावद् दृढीभूतम्। निशीथप्रायायां रात्रौ विश्वेश्वरोऽक्षिणी उन्मीलितवान्। चकितचकिताभ्यां नेत्राभ्यामात्मानं परितः स्थितान् अपरिचितान् जनान् दृष्ट्वा भूयोऽप्यसौ निमीलितवान् नेत्रद्वयम्। औषधिप्रभाववशात् निद्रामसावन्वभवत्।

तावदेव परिचारिकाऽपि समागता भिषजा सह। नेत्रोन्मीलनवृत्तं श्रुत्वा भिषक् सस्मितं प्रोवाच–साधु साधु! अनुकूलमिदं लक्षणम्। नेदानीं किञ्चिदपि भयम्। सङ्कटान्मुक्तोऽयं सम्प्रति। भद्रे! औषधयो यथाकालं दातव्याः। यदि नामायं जलं याचेत तर्हि कवोष्णं जलमीषदेव देयं, नाधिकम्। श्वस्तने प्रभाते भूयोऽप्यहं द्रक्ष्यामि।

शनैः शनैः सर्वेऽपि गताः। रामदत्तभार्या सर्वान् समाश्वास्य गृहं प्रेषितवती। तावता कालेन रामदत्तोऽपि गृहात् विष्टरप्रच्छदपरिधानपात्रादिकं गृहीत्वा समागतः। भार्याऽवदत्–भवानपि गृहं गच्छतु। नाऽत्र सम्मर्दस्यावश्यकता। अहमेकलैव सर्वं करिष्ये। प्रातः काले पुनरागन्तव्यम्।

रामदत्तोऽपि रामसुन्दरेण सहैव विन्ध्याचलं गतवान्। वस्तुतः पत्न्याः सेवाभावं सहृदयतामुदारतां ममत्वञ्च सम्प्रेक्ष्य सुभगम्मन्यत्वं तस्य वृद्धिमवाप। आसीच्च तच्चेतसि–हन्त! कियत्कारुण्यशीला मे गृहिणी! आत्मकुटुम्बिनां कृते को न ताम्यति? परन्तु यस्मिन् गृहे मदर्धाङ्गिन्याः स्वसा कापि परिणीता, तद्गृहस्य सदस्यमिमं श्रुत्वैव विकलेयं जाता? सेवार्थमस्य सनिर्बन्धं स्वयमागता। नेयं सम्यक्तया जानाति परिचिनोति वा युवानमिमम्। कस्याऽयं पुत्रः? केन सम्बन्धेन वाऽयं मद्भार्याया भगिन्या सह सम्बद्धः। हन्त, केवलं सन्दिग्धगृहपरिचयमहिम्नैव प्रह्वीभूय सर्वमिदं समाचरति?

गते सति भर्तरि रामदत्तभार्याऽपि एकाकिनी सञ्जाता। विश्वेश्वरपर्यङ्कं, निकषैव प्रच्छदमास्तीर्य सा बाहुलतोपधायिनी कुट्टिम एवाऽशेत। परन्तु क्व निद्रा नेत्रयोः? यद्यप्यसत्यं समाश्रित्य रक्षितवती साऽत्मानम्। तथापि सम्यक्तयाऽनुभवति सा यथार्थम्। अस्य युवकस्य कुटुम्बे न तस्याः कापि स्वसा परिणीता। प्रत्युत स्वयमेवाऽसौ तस्मिन् गृहे परिणीता। रहस्यगर्भमिदं सत्यं को नु जानाति? यदेदं सत्यं घटितं तदाऽयं विश्वेश्वरः समुत्पन्नोऽपि नासीत्। केवलमस्य ज्येष्ठा भगिनी प्रभावत्येव सञ्जाताऽसीत्।

सम्पुटितनेत्रा रामदत्तभार्या स्वातीतं स्मरति। हन्त, राष्ट्रमिदानीं स्वतन्त्रम्। पण्डितजवाहरलालनेहरुमहोदयोऽस्त्यस्माकं प्रथमः प्रधानमंत्री। परन्त्वितः पञ्चत्रिंशद्वर्षपूर्वं

परतन्त्रमिदं राष्ट्रं स्वातन्त्र्यमवाप्तुं संघर्षरतमासीत्। महात्मगान्धिना प्रवर्तितेन सविनयावज्ञान्दोलनेन गौराङ्गशासनं विपन्नमिवासीत्। सर्वत्रापि राष्ट्रभक्तानां दमनम्। वन्देमातरम् इत्युच्चारयतामेव जनानां नृशंसमुत्पीडनम्। स्वातन्त्र्यपक्षधराणां गृहविध्वंसनं सम्पदपहरणं कुटुम्बिनाञ्च निर्दयशातनम्। राष्ट्रे सर्वत्रापि हाहाकार आसीत्।

तस्मिन्नेव समये वधूभूयाऽहं गृहेऽस्मिन् समागता। सर्वविधसमृद्धिनिचित आसीदयं कुटुम्बः। मम श्वसुरस्य द्वौ अनुजावास्ताम्। मध्यमश्वसुरस्य कन्यैवैकाऽसीत्। कनिष्ठश्वसुरस्य पुनस्त्रयः पुत्रा आसन्। तेषु ज्येष्ठो रामशेवरस्तु ममापि ज्येष्ठ आसीत् पत्युरग्रजत्वात्। मध्यमो महेश्वरः कनिष्ठः कोसलेश्वरश्चोभावपि देवरावास्ताम्। मम पत्युर्नामासीत्कामेश्वरः।

त्रयोदशवर्षदेशीयैवाऽहं परिणीताऽभवम्। तृतीयवर्षे मम द्विरागमनं जातम्। मासं यावत् श्वसुरालये उषित्वाऽहं मातृगृहं प्रत्यावृत्ता। एकस्मिन् मासे सर्वैः कुटुम्बिभिस्सार्धं मे परिचयो जातः। कैश्चित् सह परोक्षरीत्या, कैश्चित् सह प्रत्यक्षरीत्या। परन्तु प्रगाढपरिचयस्तु महिलाभिस्सहैव सम्पन्नोऽभूत्। मम ज्येष्ठार्यस्तु मत्कृते साक्षात् भगवानेवासीत्। निखिलेऽपि कुटुम्बे स खलु मर्यादापुरुष इवाद्रियते स्म। महेश्वररस्यापि पत्नी मया सहैव गृहमागच्छत्। कनिष्ठः कोसलेश्वरोऽपि सम्पन्नोद्वाह आसीत्। परन्तु तद्भार्या सम्प्रत्यपि द्विरागमनं प्रतीक्षतेस्म। गृहे द्वे ननान्दारौ आस्ताम्। प्रथमा मध्यमश्वसुरस्य पुत्री श्यामाऽपरा च महेश्वस्य पुत्री प्रभावतीति। प्रभावती यद्यपि मम भ्रातृव्यासीत् तथापि श्यामामेवानुकुर्वती साऽपि मां भ्रातृजायामेव सम्बोधयति स्म।

मासं यावच्छ्वसुरगृहमध्युष्याहं प्रथमश्रावणं मातृगृह एव यापयितुं तातपादेन सह प्रत्यावृत्ता। परन्तु मय्यागतायामेव मद्दौर्भाग्यं मज्जीवने पदं दधे। कालराख्यो महारोगस्सहसैव प्रसृतः। मम पतिरपि वरयात्राव्याजेन क्वचिद्बहिर्गत आसीत्। तत्रैव सङ्क्रामकरोगेणानेनाऽसौ दृढं संग्रस्तः। यथाकथञ्चिदसौ गृहमुपावृत्तः। परन्तु सकृदागतो रोगस्तत्प्राणानादायैव न्यवर्तत। लोकप्रचलिता उपचारा विहिताः। महानसे निषिद्धोऽपि पलाण्डुरसस्तस्मै भूयोभूयः प्रदत्तः। दुर्गासप्तशत्याः पाठोऽपि कृतो ज्येष्ठार्येण। महामृत्युञ्जयमन्त्रपुरश्चरणमपि सम्पादितम्। तथापि सर्वमिदं खलीकृत्य माञ्च वैधव्यकलङ्कितां विधाय पतिर्मे दिवङ्गतः।

जीवनं मे दुर्दिनकल्पं जातम्। घनाच्छन्नं तु दुर्दिनम्। सूर्याभावेऽसति रात्रिरपि नासीत्। प्रत्यक्षसूर्याभावे दिनमपि नासीत्। ममापि सौभाग्यसूर्यः विपद्घनघटाभिः संछन्नोऽभूत्। दुर्वहमासीन्मत्कृते केवलमपि यौवनभारम्। ततोऽपि दुर्वहतरमिदानीमासीद् वैधव्यभारम्। तथापि, द्वाभ्यां भाराभ्यां भुग्ना सत्यहं शरणभूतं श्वसुरगृहं पुनरागता। अत्र स्वजनसङ्कुले, प्रतिवेशिनीगताऽगतमण्डिते, शिशूनां क्रीडाभिर्मुखरिते कुटुम्बे शनैः शनैरहं प्रकृतिस्था जाता।

व्यतीतान्येवमेव द्वित्राणि वर्षाणि।

कस्मिंश्चिद्दिवसे मध्याह्नभोजननिर्माणार्थं शुष्केन्धनमानेतुमहं पृथक् पर्णशालां गतवती। अत्र कुटीरे प्रभूतमात्रं शुष्ककाष्ठजातं गोमयकरीषादिकञ्च सुरक्षितं तिष्ठतिस्म। अतिविश्वस्तभावेन यावदेवाऽहं करीषमादातुं दक्षिणहस्तं पुरस्सारितवती तावदेव कालसर्पफूत्कारमश्रौषम्। हा हन्त! फूत्कारं श्रुत्वाऽपि न मे मतिः प्रत्युत्पन्ना। न मया किमपि भयं कल्पितं, न चापि फूत्कारविषये किमपि विमृष्टम्। अथ, यावदेवाऽहं करीषमेकं निस्सार्य भूयोऽपि हस्तं निवेशितवती तावदेवात्मरक्षासन्दिग्धः क्रुद्धो नागो मम तर्जन्यां निर्भरं दृष्ट्वान्। नागादष्टाऽहं सक्रन्दनं गृहाभ्यन्तरमागता। नागदंशवृत्तं श्रुत्वैव गृहे हाहाकारस्समजनि। दलितवसतौ कश्चित्प्रख्यातविषवैद्य आसीत्कालूरामः। सोऽपि तत्क्षणमेव समागतः। तदुपचारेण प्राणा मे रक्षिताः। कथमुपचारो जात इत्यहं न ज्ञातवती मूर्च्छावशात्। परन्तु महेश्वरपत्नी पश्चात् तत्सर्वमाख्यातवती।

सर्पदंशानन्तरमेवाऽहमचेतना जाता।क्षणं यावदनुभूतम्मया यथाऽहं कस्मिन्नपि गभीरगह्वरे शनैः शनैः प्रविशामि, यद्वा पातालगर्तेऽवतरामि मन्दगत्या। ततश्च सोऽप्यनुभवो विनष्टः। नष्टसंज्ञाऽहं जाता। ममाधरप्रान्ताभ्यां गाढगाढः फेनराशिः बहिः स्यन्दितुं प्रवृत्तः। नेत्रे मे निमीलिते।

तावदेव समागतः कालूरामः। स मन्त्रप्रयोगात्प्रागेव महेश्वरं निवेदितवान्–भो मन्त्रप्रयोगानन्तरमेव स नागोऽस्यामाविष्टो भविष्यति। तदेयं साक्षान्नागरूपैव भविता। नाग इवैव फूत्कृतिं जनयिष्यति, विषदन्तान् च प्रदर्शयिष्यति। अतएव नागरूपामिमां कृपया दृढं गृह्णातु भवान्। नेयं कथमपि स्वतन्त्रा स्यात्। इत्येवं सम्बोध्य, सम्मर्दं चापसार्य कालूरामः पीतसर्षपबीजानि समुपकल्प्य, मम कर्णयोश्च कमपि विषौषधिममोघं विन्यस्य यावदेव साबरमन्त्रपूर्वकं कृतापराधं तं नागमभिमन्त्रितवान् तावदेवाऽसौ सझम्पं मय्याविष्टः। तस्मिन्नाविष्टे सति सर्पविग्रहाऽहमपि सफूत्कारं सर्पमुद्रा विविधाः प्रदर्शयन्ती समुपविष्टा। महेश्वरो मां दृढं जग्राह। विलुलितपुत्तलिकाऽसकृदुद्वृत्तजिह्वाग्रा क्रोधारुणलोचना सर्परूपाऽहं यावदेव समुपविष्टा चैतन्यमुपादाय, तावदेवाऽभद्रवचनैर्निर्भर्त्स्य तं नागं कालूरामोऽपृच्छत्–

–किं रे कृतघ्न! यस्मिन् पत्रे खादसि तस्मिन्नेव छिद्राणि विदधासि?

–किम्मया कृतम्?

–नीच सर्पाधम! पृच्छसि किम्मया कृतमिति? स्वदंशेन साध्वीमिमां मृत्युद्वारमानीतवानसि! तथापि पृच्छसि किम्मया कृतमिति?

–किमन्यन्मया करणीयमासीत्? फूत्कृत्य मया स्वोपस्थितिः सूचिता। तथापीयं नावधानं दत्तवती। सर्पोऽवदत्।

–पृच्छाम्यहं नीच! कस्मात्त्वं करीषनिचये स्थितः? न तत् तव निवासस्थानम्? इन्धनागारं तत्। सायं प्रातः इन्धनमाहर्तुं कोऽपि काऽपि वा गमिष्यत्येव। तर्हि त्वं यं

कमपि गन्तारं दक्ष्यसि? अयमेव तव धर्मः? किमन्यत् स्थानं न वर्तते त्वन्निवासार्थम्?

–अलं मां खलीकृत्य। तस्मिन् करीषनिचये नाऽहमेकल एव। अन्येऽपि नागा वर्तन्ते। अस्या अङ्गुल्यग्रेण पीडितं मन्नेत्रम्। तत एव मया प्रकटितं फूत्कृतम्। भूयोऽपीयं तथैवाचरितवती। ततो हि साध्वसवशान्मया दष्टम्।

–मूढ! इयं वराकी तु तवोपस्थितिमपि न ज्ञातवती। प्रकृत्यैव त्वं दुर्मर्षणः पापप्रकृतिश्च प्रतीयसे। तदद्यैव त्वां मन्त्रबलेन भस्मसात् करिष्ये। इत्युक्त्वा यावदेव कालूरामो भूयोऽपि पीतसर्षपबीजानि प्रक्षिप्य मन्त्रं जजाप, तावदेव सर्पो यन्त्रणाविद्धस्सन् सदैन्यमवदत्।

–भो मुञ्च माम्। असह्यमिदं यन्त्रणम्। मुञ्च माम्। अहमद्यैव तत्कुटीरं विहाय क्वचिदन्यत्र गमिष्यामि।

–इमां साध्वीं मुञ्चसि न वा?

–मुञ्चामि, मुञ्चामि।

–कस्ते विश्वासः? शपथं कुरु।

–कीदृशं शपथम्।

–प्रथमं थूत्कृत्य लिह पश्चात्तदेव। नाऽन्यं शपथं स्वीकरिष्यामि।

ततश्च पश्यत्येव जनसम्मर्दे सर्परूपा कामेश्वरभार्या स्वकीयं थूत्कृतं निगीर्णवती। कतिपयक्षणानन्तरमेव नागविषमुक्ता सा प्रकृतिस्था जाता।

ततश्च प्राह कालूरामः–भो सम्प्रति विषमुक्तेयं जाता। नयेमाम्। शीतलजलेन स्नपयित्वा घृतमिश्रितमुष्णक्षीरं पायय। ततश्च मुद्गकृशरं प्रयच्छ रात्रौ। विषप्रभावोऽयं कतिपयमासान् यावत् स्थिरो भविष्यति। कार्याधिक्ये, निदाघाधिक्ये, श्रमाधिक्ये च विषं प्रभावि भवितुं शक्नोति। तदा मां त्वरितमाह्वय। इत्येवं मन्त्रयित्वा कालूरामो गतः।

प्रकृतिस्थाऽहं जाता। तद्दिनादेव महानसकार्यान्मुक्ताऽहं जाता तत्रातपाधिक्यवशात्। गुरुतरकार्याण्यपि गृहस्य कर्तुं नाऽहमाज्ञप्ताऽभूवम्। इन्धनमप्यानेतुं नाहं गतवती द्वितीयवारम्। सर्पविषप्रभावो वारद्वयं मामभिभूतवान्। परन्तु कालूरामस्य मन्त्रोपचारात् शान्तो जातः।

एवमेव कदाचिद् ग्रीष्मसन्ध्याकाले विषप्रभावो मे स्फारीभूतः। मम ज्येष्ठार्या कालूराममाह्वातुं कमपि प्रेषितवती। परन्तु तीव्रज्वरसन्तप्तोऽसौ पदात्पदमपि चलितुमशक्त आसीत्। अतएवाऽसौ प्रतिसन्देशं प्राहिणोत् यदहमेव केनापि सार्धं तद्गृहमुपयानि। तत्रैवासौ मन्त्रोपचारादिकं सम्पादयिष्यति।

ज्येष्ठार्याज्ञया दारिकया प्रभावत्या सह कालूरामगृहं गतवत्यहम्। प्रदोषतमसि तस्मिन् केचन मात्सर्यग्रस्ता जना मां दृष्टवन्तः। अहन्तु कालूरामोपचारानन्तरमेव गृहमुपावृत्ता। परन्तु ज्येष्ठार्यमत्सरिणस्ते लोकापवादकर्मणि व्यापृता अभूवन्। पण्डितरामेश्वरस्य भ्रातृजाया

कालूरामकुटीरं निभृतनिभृतं गच्छति। सर्पविषापहारव्याजेनोभयोः प्रणयसम्बन्धो दृढीभूतः! विजयतां विजयतां कालूरामो येन सर्पमन्त्रमहिम्ना देवाङ्गना सम्प्राप्ता! भद्र! दलितेन कालूरामेण सह सम्बन्धं विधाय कलङ्कितवतीयं महिला पण्डितपरिवारम् इत्येवं विविधलाञ्छनैः मत्सरिणस्ते समग्रमेव कुटुम्बमाविलयितुं प्रवृत्ताः।

नामूला जनश्रुतिरिति यदुच्यते तदस्मत्सन्दर्भे चरितार्थाऽभूत्। समग्रेऽपि क्षेत्रे कौलीनमिदं व्याप्तं यद्रामेश्वरपण्डितस्य विधवा भ्रातृजाया कस्यापि दलितयुवकस्य पर्यङ्कशायिनी जाता। ये खलु नराधमाः कौलीनप्रचारकास्तेषामन्यतमा एव सूचका अपि। ज्येष्ठार्यः महेश्वरः कोसलेश्वरो वा यः कोऽपि, यत्र कुत्रापि गच्छतिस्म, तत्रैव कौलीनमिदमनुयातिस्म। तद्विषये कदाचित्कोऽपि वृद्धः पृच्छतिस्म कदाचिच्च कापि स्थविरा। यद्यपि मम ज्येष्ठार्या परमार्थं प्रकाशितवती यत्तदाज्ञयैवाहं कालूरामगृहं गतवती दारिकया सार्धम्। कालूरामो ज्वराक्रान्तो गृहमागन्तुं क्षमो नासीत्।

परन्तु पापश्रवणकातरस्समाजः क्व पुण्यं पश्यति? यादृशी निष्ठा समाजस्य सन्दृश्यतेऽवमानने व्यभिचारे लोकापवादे सम्पतने वा कस्यचित् न तादृशी समुन्नतावभ्युदये वा।

शनैः शनैरियं वाचिकी विषूचिका मामपि दृढं जग्राह। तत्सर्वं निशम्य प्रगाढं रुदत्या मया जागरैरेव क्षपिता त्रियामा। अचिन्तयमहम्-'न मेऽनुकूलो विधिः।मातृपितृहीनाऽहं मातृगृहपक्षतः। केवलमेकस्सहोदरोऽवशिष्टः। पूर्वजन्मार्जितपुण्यसम्भारवशात्सर्वमपि समवाप्तं मया। रूपगुणप्रीतिसङ्कुलः पतिः, सम्मानभाजो गृहसदस्याः, प्रख्यातञ्च कुलम्। किमधिकम्मे काम्यमासीत्? परन्तु प्रतीपो विरञ्चिः सर्वमपहर्तुं बद्धपरिकरः प्रतिभाति। प्रथमं तेन पतिं हृत्वाऽयशस्करं वैधव्यं प्रदत्तम्।इदानीं दुश्चारित्र्यकौलीनमुत्पाद्य जीवनाश्रयभूतं पतिगृहमपि प्रसह्य स्वायत्तीकर्तुमिच्छति! तदहं न भविष्यामि कथमपि स्वपतिकुलकलङ्ककारणम्। देवी वैदेहीव स्वयमेव परित्यज्याऽयोध्यां क्वचिदन्यत्र गत्वाऽविदितैव निवत्स्यामि।

तावदेव श्रुतम्मया यज्जेष्ठार्या महेश्वरपरिवारेण सार्धं विन्ध्याचलतीर्थं गन्तुमिच्छति। तन्निशम्यैव चिन्तितं मया-हन्त! सिद्धो मे मनोरथः। अहमपि विन्ध्याचलं गमिष्यामि, किन्त्वप्रत्यावर्तनाय।

-ज्येष्ठार्ये! मामप्यात्मना सह विन्ध्याचलं नय। रात्रौ चरणसंवाहनं कुर्वती, सविनयमहंमवदम्।

-भद्रे! सर्वेऽपि विन्ध्याचलं चलिष्यन्ति तर्हि गृहं शून्यं भविष्यति। श्यामाऽत्र भविष्यत्येकाकिनी। ज्येष्ठार्याऽवदत्।

-ज्येष्ठार्ये! अलं मां निषेध्य। कदाचिद् भगवत्या दर्शनमात्रेण कलङ्कपङ्को मे प्रक्षाल्येत। अमृतसरोवरे कालकूटकलशीवाहं समुत्प्लवामि।मया जीवितया मृतया वा सम्प्रति किं प्रयोजनम्? सम्प्रति चिन्तयामि यत्सर्पदंशवृत्तं किमर्थं प्रकाशितं मया? सर्वार्थसिद्धियोगो हस्तात्परिभ्रष्टो मया।

मदीयं रहस्यगर्भं साकूतं दैन्यवचनं श्रुत्वैव विदितवेदितव्या ज्येष्ठार्या मामङ्के निधाय रोदितुं प्रवृत्ता। मां सान्त्वयन्ती साऽकथयत्–कनिष्ठे! अलं दैन्येन। अलं सन्तप्य। त्वद्दुर्भाग्यमहं जानामि। वत्से! तव ज्येष्ठार्योऽपि सत्यं सम्यक्तया जानाति। किन्तु यथा मर्यादापुरुषोत्तमो रघुनन्दनो देवीं सीतामकल्मषां सदाचरणशीलां जानन्नपि नृशंसलोकात्पराजितो जातस्तथैव त्वज्ज्येष्ठार्योऽप्यात्मानमसहायं किञ्चित्कर्तुमक्षमञ्चानुभवति।

परन्त्वलं चिन्तया। यथा झञ्झाभूतोऽनिलः स्ववेगं प्रकटय्य, स्थिरपादपान् निपात्य, कुटीराणि कानिचन समुत्पात्य भूयोऽपि शान्तो जायते तथैव प्रतिकूलसमयोऽप्ययं सौम्यतामुपयास्यति। मयि जीवन्त्यामत्र सर्वथा सुरक्षिताऽसि कनिष्ठे! नृशंसविधिना या विपत्तुभ्यं प्रदत्ता तां मर्षयितुं न कोऽपि क्षमः। परन्तु वत्से! अस्मत्पक्षतो न ते काचिदन्या विपत्तिर्भयं वा।

भवतु। त्वामपि विन्ध्याचलं नेष्यामि। यात्रायै सन्नद्धा भव।

ज्येष्ठार्ययाऽनुमताऽहं यात्रार्थम्। किन्तु किं मनसि सङ्गोप्याहं विन्ध्याचलं गन्तुमुत्सह इति मनागपि सा नो वेद।

अपरेद्युः सन्ध्यां यावद् वयं विन्ध्यक्षेत्रमासादितवन्तः। धूलिधूसरितपादैरस्माभिः प्रथमदर्शनं कृतम्। ततश्च तीर्थपुरोहितगृहे आवासप्रबन्धं विधाय, स्नानादिकं च सम्पाद्य रात्रौ विधिवत् भगवत्या विन्ध्यवासिन्या भूयोऽपि दर्शनं कृतम्। ततश्च रात्रिभोजनं निर्वर्त्य सर्वेऽपि निर्भरं प्रसुप्ताः।

ततश्चाहमपररात्रौ सर्वेषु प्रसुप्तेषु सत्स्वेव शनकैरुत्थाय तीर्थपुरोहितगृहान्निष्क्रान्ता। ज्येष्ठार्यायाश्चरणधूलिं मस्तके विन्यस्याऽहं च्यवदमन्दाश्रुलोचना गृहाद्बहिरागता। क्व गच्छानि? नेदानीमपि प्रभाता रजनी। यदि मन्दिरप्रतिवेशे स्थास्यामि तर्हि मार्गयिष्यन्त्येते। समुपलभ्य च मां पुनरपि सहैव नेष्यन्ति। तन्नाहमिच्छामि। सम्प्रति नाहमात्मोपस्थित्या स्फीतकीर्तिं तं द्विजवंशं कलङ्कयिष्यामि। तदितः प्रस्थाय आदिवसं नगराद्बहिः क्वचित्स्थास्यामि। तावता कालेन सर्वेऽप्येते गृहं निवर्तिष्यन्ते। एवं चिन्तयन्त्या एव मे पादौ विन्ध्यपर्वताभिमुखं पुरस्सृतौ।

इतः परं मत्कुटुम्बिनां किमभूदिति नाऽहं ज्ञातवती। ज्येष्ठार्या तु मच्चित्तव्यथां सम्यक्तया जानातिस्म। अवश्यमेव सा सर्वान् गृहसदस्यान् प्रबोध्य गृहमनैषीत्। अहम्पुनर्दिनद्वयं यावद्रात्रौ विन्ध्याचलरेलस्थानके विश्रम्य तृतीयप्रभातकाले पुनरागतवती गङ्गातटम्। स्नात्वा भागीरथ्यां विलापविधुराऽहं यदा चिन्तोदधिमग्नाऽसं तावदेव स्नानोत्तीर्णः कश्चिद् बृद्धपुरुषो मत्समीपमागत्याऽपृच्छत्–वत्से! कथं रोदिषि? मन्ये दर्शनार्थिभ्यो गृहसदस्येभ्यश्च्युताऽसि? प्रायेण प्रतिमासमत्र तीर्थे द्वित्रा ईदृश्यो घटना घटन्ते एव। तन्मया सह रक्षिस्थानकं यावदागच्छ। स्थानकाध्यक्षो मम सुपरिचितः। स खलु तव परिचयमवाप्य केनचिद्रक्षिणा सार्धं त्वां गृहसदस्येभ्यः समर्पयिष्यति। उत्तिष्ठ, माऽत्रोपविश। पाखण्डिनः खण्डितवृत्तास्त्वादृशीमेकलामसहायां युवतिं दृष्ट्वैव सक्रिया भविष्यन्ति।

–तात ! नाऽहं कुटुम्बिभिश्च्युता। वस्तुतोऽहमेव स्वकुटुम्बं परित्यज्य एकलाऽस्मि संवृत्ता। इति कथयन्त्येवाऽहं घनीभूतपीडास्तम्भितकण्ठी शाटिकाञ्चलं मुखे विन्यस्य गाढगाढं रोदितुं प्रवृत्ता।

तदवस्थां मामवलोक्य मम स्पष्टोक्तिञ्चानुश्रुत्य वृद्धो मम पार्श्वमुपविष्टः सवात्सल्यमभणच्च–वत्से ! सत्कुलसम्बद्धा प्रतीयसे। तद्व्यथाकथान्ते आमूलचूडं श्रुत्वैव गमिष्यामि। तातपादं मां सम्बोधितवत्यसि। तत्पितृपुत्रीसम्बद्धमहिम्नैव शापिताऽसि। कथय, कासि त्वम्? कस्मात्कुटुम्बिनस्त्वया परित्यक्ताः? किं कर्तुमिच्छसि साम्प्रतम्?

वत्से ! तीर्थपुरोहितोऽहं देवीदत्तनामा। पुत्री मे ज्येष्ठा भगवतीनाम्नी समृद्धतमेन तीर्थपुरोहितेन रामसुन्दरेण सह परिणीता। अहम्पुनः पुत्रेण रामदत्तेन सह स्वपैत्रिकावासे निवसामि। तदलं सङ्कोचेन। आगच्छ मया सह। गृहमासाद्यैव सर्वं वृत्तं श्रोष्यामि।

वृद्धतीर्थपुरोहितनिर्बन्धवशात् तेन सार्धमहं तद्भवनमागता। तत्रैव मयाऽत्मवृत्तं सर्वं तस्मै निवेदितम्। श्रुत्वा चाऽसौ ममत्वाक्रान्तो जातः सस्नेहमवदच्च–पुत्रि ! सम्प्रत्याश्वस्ता भव। इदमपि भवनं त्वदीयमेव। पितृगृहमवगच्छ, श्वसुरगृहं वेति त्वदधीनम्। परन्तु मत्कृते तूभयथाऽपि त्वं पुत्री जाताऽसि।

सुखान्तमभून्मम जीवननाट्यम्। मासावधावेवाऽहं रामदत्तस्य धर्मपत्नी जाता। स मय्यतितरां स्निह्यति। त्तेन सह सुखं जीवन्त्यहं सर्वविधरमणीसौभाग्यं भुक्तवती। वृद्धो मे श्वसुरश्चिरं मां सुखिनीं सम्प्रेक्ष्य दिवङ्गतः।

परन्तु चिरावधिके कालेऽपगते सत्यपि पूर्वाश्रमस्य स्मृतिर्मे न विनष्टाऽभूत्। इदं ज्ञातम्मया यत्प्रतिनवरात्रं मम ज्येष्ठार्यो महेश्वरो वा विन्ध्यतीर्थमागच्छति। तस्मादेव निलीयाऽहं तं दूरत एव दृष्टवती प्रणामञ्च तस्मै समर्पितवती। परन्तु न कदापि तत्सम्मुखीनाऽभवम्। मन्ये, तेऽपि मां नष्टां, गङ्गाम्भसि निमग्नां, क्वचिदन्यत्र पलायितां वा मेनिरे।

एवं सत्यपि, दुर्घटनादिवसे आवुत्तमुखाद् विश्वेश्वरस्य वंशपरिचयं श्रुत्वैव तमहं परमार्थतः प्रत्यभिज्ञातवती यन्निश्चप्रचमयं महेश्वरस्यैव पुत्रः। साम्प्रतमिमं सेवमानाऽहं विलक्षणमेव पुत्रसुखमनुभवामि।

।। ३ ।।

दिनत्रयं व्यतीतमौषधालये। सम्प्रति विश्वेश्वरस्सर्वथा चेतनो जातः। किन्तु प्रयत्नपरः सन्नप्यसौ मातृवयस्कां तां महिलां न पर्यचिनोत्। काऽस्ति भवतीत्यपि प्रष्टुं नासीदुचितम्। परन्तु तस्या वात्सल्यं सेवावृत्तिञ्चावलोक्य विश्वेश्वरोऽनुमितवान् यदियं तीर्थपुरोहितस्य रामसुन्दरस्यैव काचिद् गृहसदस्याऽस्ति। रामसुन्दरस्य धर्मपत्नीं तु सम्यक्तयाऽसौ वेद। वस्तुत एतत्सर्वं सम्भाव्यापि कुतूहलाक्रान्तमेवासीत् विश्वेश्वरस्य हृदयम्।

–तात ! साक्षात्पराम्बासदृशी केयं महिला, या मां नक्तन्दिवं रक्षन्ती जीवयति? माध्याह्निके एकान्ते विश्वेश्वरो रामसुन्दरमपृच्छत्।

–वत्स ! इयमस्ति मम श्यालपत्नी। कथयति यदस्याः काचिद्भगिनी तव कुटुम्बे परिणीताऽस्ति। मन्मुखात्तव परिचयसूत्रं ज्ञात्वैव त्वां पुत्रकल्पं मन्यमानेयं, दुर्घटनादिनादेवच्छायेव त्वामिह सेवते। सर्वमप्यौषधालयव्ययमियमेव कृतवती।

–आश्चर्यम्। प्रयत्नपरोऽपि नाहं प्रत्यभिज्ञातुं पारये यदस्मत्परिवारे का नु महिलाऽस्याः भगिनी स्यात्? यतो हि सर्वासां परिचयसूत्रमहं सम्यक्तया वेद्मि। भवतु, जनन्या ज्ञातं भवेदिदं रहस्यमिति सम्भावयामि। कुटुम्बिनो मे नायाताः?

–वत्स ! ह्यस्तने सान्ध्यकाले एव सन्देशहरः प्रत्यावृत्तः। विदितवृत्तस्ते पिता। मन्येऽद्यैव सोऽप्यायाति।

तदासीन्नवरात्रस्यान्तिमं दिनम्। सत्यमेव मध्याह्ने व्यतीतप्राय एव विश्वेश्वरस्य पितृचरणस्समागतः पत्न्या सार्धम्।वस्तुतः सन्देशहराद्दुर्घटनावृत्तमुपश्रुत्यैव तौ प्रचलितौ। पदाती एव गृहाद् धनियामऊँहट्टमासाद्य तौ रात्रावेव जौनपुरनगरमायातौ। ततश्च प्रत्युषस्येव प्रथमबाष्पयानेन यात्रां सम्पाद्य मध्याह्नं यावन्मीरजापुरमागत्य झटित्येव जनपदौषधालयं सम्प्राप्तौ। किञ्चित्कालानन्तरमेव तौ स्वपुत्रं विश्वेश्वरं दृष्टवन्तौ।

जननी पुत्रं तदवस्थमवलोक्य गाढगाढमरोदीत्। परन्तु विश्वेश्वरेणाऽर्धकायेनोत्थाय समाश्वासिता सती सा प्रकृतिमापन्ना। ततश्च दुर्घटनावृत्तं क्रमेण शृण्वतां समेषां समधिकः कालो व्यतीतः।

–अम्ब ! मध्य एव सञ्जातसंस्मृतिर्विश्वेश्वरोऽपृच्छत्। तीर्थपुरोहितस्य श्यालभार्या मां त्वत्तोऽप्यधिकं रक्षितवती। साक्षाद् भगवती विन्ध्यवासिन्येव तद्रूपतामुपेत्य मत्पार्श्वे नक्तन्दिवं स्थिताऽसीदित्यहं मन्ये। किन्तु नाऽहं तां प्रत्यभिजानामि। सा पुनः कथयति यत्तस्याः काचित्स्वसाऽस्मत्कुटुम्बे परिणीता। तेन सम्बन्धेनैवाऽहं तस्य पुत्रकल्पः। मातः, दुर्घटनाक्षणादेव सा च्छायेव मत्पार्श्वे तिष्ठति। रात्रावपि सैवाऽत्र भूमावशेत। सर्वमप्यपेक्षितं व्ययमपि सैव कृतवतीति तीर्थपुरोहितो वदति।

तत् का नु खल्वियं भगवती च्छिन्नमस्ता या स्वमस्तकं छित्वाप्यस्मत्कृते जीवति? तां प्रत्यक्षं किमपि प्रष्टुं न मे साहसं जातम्।

विश्वेश्वरवचनं श्रुत्वैव महेश्वरो विद्युत्स्पर्शमिवानुभवन् सहसैव भार्यामवदत्– सौभाग्यवति ! मन्ये त्रिंशद्वर्षपूर्वं विन्ध्याचलेऽस्मिन् विलुप्ताऽस्माभिर्मृतेत्युपकल्पिता भ्रातृजायाऽस्माकं जीवति। तामेकां विहाय काऽन्या महिला कुटुम्बमस्माकं जानीयात्?

–सत्यमाह भवान्। सत्यमेव महिलाऽसावस्मज्जयेष्ठार्यैव। सत्यमेव सैवाऽस्माकं कुलरक्षिणी भगवती छिन्नमस्ता! इत्येवमाख्याय करुणमतीतं संस्मृत्य महेश्वरभार्याऽविरला– श्रुसन्ततिक्लिन्ना सञ्जाता। महेश्वरोऽपि सजलनयनोऽभूत्।

–मातः! स्मृतं त्वया? सत्यमेव महिलाऽसौ अस्मत्सम्बन्धिनी? तदस्मत्परिवारे परिणीता का नु महिला तदीया भगिनी?

–वत्स! बृहतीयं कथा। पश्चादामूलचूडं कथयिष्यामि। न कापि स्वसाऽस्याः महिलाया अस्मत्कुटुम्बे परिणीता। स्वयमेवेयं परिणीताऽऽसीत्कुटुम्बेऽस्माकम्। वत्स विश्वेश्वर! इयमस्माकं ज्येष्ठार्या। तव तातपादस्य विधवा भ्रातृजाया। इतस्त्रिंशद्वर्षपूर्वमस्माभिस्सार्धमत्र विन्ध्यतीर्थमागत्येयं विलुप्ता। प्रभूतमन्वेषणं कृतमस्माभिः। परन्तु सर्वतोदिशं नौराश्यमात्रमापद्य तां देवीं गङ्गाम्भसि विलीनां मत्वा वयं हृद्व्यथामात्रं संहृत्य ग्राममुपावृत्ताः।

वत्स विश्वेश्वर! मन्ये सैव गृहदेवताऽस्माकं पुण्यैस्सम्प्रत्यपि जीवति। सैव ते जीवनरक्षित्री भगवती छिन्नमस्ता!

–भ्रातः रामसुन्दर! सत्यमियं भणति। अहमपि दृढं विश्वसिमि यत्तव श्यालपत्नी मम ज्येष्ठभ्रातृजायैव। कुलकीर्तिरक्षायै साऽत्मानमत्र विलोप्य अस्मत्कुटुम्बात्परिच्छिन्ना जाता, रामयशोरक्षिणी वैदेहीव। पश्चात्सर्वमपि वृत्तं ते सविस्तारं कथयिष्यामि। परन्तु झटित्येवाऽस्मान् तया मेलय! ध्वंसतेऽस्मद्धैर्यम्। महेश्वरोऽभणत्।

इति कथयत्येव महेश्वरेऽज्ञातविश्वेश्वरकुटुम्बागमनवृत्ता रामसुन्दरश्यालभार्या सहसैव समागता। तां दृष्ट्वैव रामसुन्दरोऽवदत्–देवि! तव भक्ताः केचन दर्शनार्थमागताः। परिचिनोष्येतान् न वा? इत्याख्याय रामसुन्दरो महेश्वरं महेश्वरपत्नीञ्च सङ्केतितवान्।

दृष्ट्वैव सा प्रत्यभिज्ञातवती स्वदेवरं देवरपत्नीञ्च। विश्वेश्वरजननी सरभसं ज्येष्ठार्ये ज्येष्ठार्यं इति रटन्ती तां प्रगाढालिङ्गने बद्ध्वा सकरुणं विलपितवती। महेश्वरोऽपि त्रिंशद्वर्षानन्तरं मृतकल्पां भ्रातृजायामवलोक्य मुखं पिधाय रोदितुं प्रवृत्तः। चिरं यावन्न कोऽपि किञ्चिदवदत्। सर्वेऽपि स्वस्मिन्नेव व्यथासागरे निमग्ना आसन्।

–भ्रातृजाये! वनवासविधायिनं लक्ष्मणमिव मां त्यक्त्वा त्वं क्व विलुप्ताऽभूः? भवतीं रक्षितुमशक्तं मां ज्येष्ठार्यः कियन्न निर्भर्त्सितवान्? तं दुर्वहकलङ्कभारमिदानीं यावदहं शिरसा वहामि! इत्युक्त्वा सहिक्कमरोदीन्महेश्वरः।

–ज्येष्ठार्ये! वीथी–वीथी विन्ध्याचलस्यान्विष्टा। पर्वतक्षेत्रं गङ्गातटपरिसरक्षेत्रञ्च सर्वमप्यन्विष्टमस्माभिः। परन्तु नेदिष्ठमरणानामिवास्माकं कृतेऽरुन्धतीव त्वं सर्वथा दुर्लक्ष्या जाता। ततश्च भवतीं समाश्रितस्वर्धुनीं मत्वा वयं विलपन्त उपावृत्ताः। ज्येष्ठार्या तु भवद्वियोगव्यथामसहमानैव दिवङ्गता जाता। इतः प्रतिनिवृत्त्यैवाऽहं गर्भस्थमिमं विश्वेश्वरं प्रसूतवती। किन्तु ममाप्यामोदः क्षीणः।

अकस्मादेव विश्वेश्वरोऽपि शय्यातस्समुत्थाय प्राणदात्रीमधिदेवतां तां छिन्नमस्तां गाढं परिष्वज्य, नयनाश्रूणि पातयन् प्रोवाच–अम्ब! एवं त्वया मुषितोऽहम्? जनन्युचितं स्वकर्तव्यं पालयन्त्याऽपि त्वया नाऽहमनुमतः पुत्रधर्मपालनाय! मम ज्येष्ठाम्बासि त्वम्? तत्कथं न भवत्या सत्यमिदमुद्घाटितम्?

–वत्स विश्वेश्वर! अलमुपालम्भेन! सर्वमिदं मद्वृत्तं श्रोतुं नासि त्वमर्हः पुत्रत्वात्। यथा वदति ते जननी, विन्ध्यतीर्थागमनक्षणे त्वं मातृगर्भस्थ एवासीः। तथापि त्वत्पितृनामोल्लेखमात्रमाकर्ण्य निजावुत्तमुखादहं त्वां प्रत्यभिज्ञातवती। परन्तु कथमहं सत्यमिदमकथयिष्यं यदहमस्मि तव ज्येष्ठाम्बा। किञ्च, नासीस्त्वं समर्थस्तादृशं कमपि सम्बन्धं स्वीकर्तुमनुभवितुं वा। अतएव अलं मामन्यथा सम्भाव्य। केवलमेतावदेव चिन्तय यत्तव वंशपरिचयमात्रं परिज्ञाय यद् वात्सल्यं मयि सहसोद्भूतं तन्नासीन्निरर्थकम्। अज्ञातपरिचयाऽप्रत्यभिज्ञाताऽप्यहं तव ज्येष्ठाम्बाऽसम्। इदानीमपि सैवाहमस्मि, प्रकाशिते सति यथार्थवृत्ते।

–पुत्र! सत्यमाह ते ज्येष्ठाम्बा। अलमिदानीं कयापि पृच्छया। जननी प्रत्यवदत्।

–जननि ज्येष्ठमातः! नाहं किञ्चिदपि प्रक्ष्यामि। परन्तु कथमहं त्वत्तोऽनृणमात्मानं विधास्ये, इत्येव चिन्तयामि। छिन्नमस्तेत्युक्ताऽसि मया। मातः मस्तकं छित्वा न कापि जीवति, यदि च सा साक्षान्महामाया मृडानी न भवेत्। त्वमपि यथाऽम्बा ब्रूते वंशकीर्तिरिक्षार्थमेव स्वमस्तकमुच्छिन्नवती। तथापि जेजीव्यते भवती। किन्नासि मत्कृते साक्षाद्भगवती छिन्नमस्तैव?कातरीभूयावदत् विश्वेश्वरः।

–भो महापण्डितानां कुले जातोऽसि! यद् वदसि तत्सर्वं तत्त्वतो वेत्तुं नाहं क्षमा। त्वज्जनन्यपि मत्तोऽधिकं वेत्ति त्वत्पितृसङ्गत्या। वत्स विश्वेश्वर! अहं साधारणबुद्धिरस्मि। केवलमात्मानं ज्येष्ठाम्बां तवाङ्गीकरोमि। वत्स! आवयोरयमेव सम्बन्धो भविष्यति तवाऽनृण्यहेतुरपि। वचनं देहि, यदितः प्रभृति विन्ध्यतीर्थमागत्य ज्येष्ठाम्बया सहैव निवत्स्यसि!

–मातः! सम्प्रति त्वयैव सह निवत्स्यामि। इत्युक्त्वा विश्वेश्वरस्तस्या महिलायाश्चरणधूलिमात्ममस्तके विन्यस्तवान्। चिरादपरिलक्ष्यमाणस्तीर्थपुरोहितो रामसुन्दरः स्मिताननस्तावद् झटित्येव समागत्य सुमधुरस्वरोऽवदत् मध्य एव–भोः! औषधालयादनुज्ञा प्राप्ता। सम्प्रति प्रस्थातव्यमस्माभिः। त्रिंशद्वर्षीयेयं रम्या रामायणीकथा गृहे एव समाप्तिमेष्यति। वत्स विश्वेश्वर! उत्तिष्ठ! प्रथमं तावद् भगवत्या दर्शनं करिष्यसि।

विश्वेश्वरोऽवदत्–तात! मम भगवती छिन्नमस्ता तु मत्समक्षमेव तिष्ठति! ज्येष्ठाम्बेयं मम। मध्यमाम्बा भवद्गृहिणी। कनिष्ठाम्बा च मज्जन्मदात्री। सम्प्रति त्रैमातुरोऽस्मि सञ्जातः।

–रचनाकालः
१९.०७.२००९ ई०।

●

प्रायश्चित्तम्

दीपमालिकापर्वणि सा गृहमानीता। तस्यां समागतायां गृहस्वामिन्या आशाविहगा मुक्तगगने पक्षती: प्रसार्य स्वैरं विहर्तुमिवारभन्त। तस्या नयनयोरपि सहस्रमिता दीपाः काशितुं प्रवृत्ताः। समृद्धिसङ्कल्पसम्पादयित्रीयमासीत्। प्रतिवेशप्रदत्तक्षतानां पूरयित्रीयमासीत्। तत एव समग्रोऽपि ग्रामस्तां द्रष्टुं पुञ्जीभूत आसीत्।

इयमासीन्महिषी बलदेवसिंहस्य। प्रायः पञ्चमासेभ्यो महिषीशङ्कुः रिक्त एवाऽसीत्। अदोग्ध्री पूर्वमहिषी अल्पेनैव मूल्येन विक्रीता। तत एवारभ्य गृहे दुग्धाभावो जातः। दुग्धाभावे दध्यभावो, दध्यभावे तक्राभावस्तक्राभावे नवनीताभावो, नवनीताभावे च घृताभाव इत्यभावानां बृहती परम्परा काऽपि गृहस्थितिं दीनदीनामकरोत्। कनिष्ठो दारकस्तु प्रकृत्यैव क्षीरपायी। मध्यमोऽपि दधिप्रणयी। ज्येष्ठस्तु घृतं विना कवलमपि नाश्नाति। बलदेवस्यापि गाढगाढं तक्रं विना न जातु तृप्तिः। दुग्धाभावे बलदेवपत्न्याश्चापि गृहकार्यमेव सर्वं सङ्कुचितमिव जातम्। न दोहनं, न क्षीरस्याधिश्रयणं न वाऽवश्रयणं, न कवोष्णक्षीरस्य दधीकरणं, न दधिमथनं, न चाप्युत्तीर्णहैयङ्गवीनस्य घृतीकरणम्! घृतीभूतेऽपि नवनीते मन्थोच्छिष्टस्य वितरणार्थं प्रवरदारकयोर्मध्ये कियान्कलहो जायतेस्म? हन्त, सर्वमिदानीमवसितम्।

तावदेव श्रुतं बलदेवेन यत्पार्श्ववर्तिनि विपणावेव केचन दविष्ठाः पशुविक्रेतारस्समागताः। तेषां पशुसमवाये हरियाणाराज्यादानीता बहुक्षीरा महिष्योऽपि वर्तन्ते। श्रुत्वैव तत् त्वरयितृ हृदयोन्माथि धैर्यहरं वृत्त, सुवर्णमृगलुब्धा वैदेहीव, गृहिण्यशान्ता जाता। पतिमजगरमिव निश्चेष्टमवलोक्य साऽवदत्–भोः किमेवं तूर्ष्णीं स्थितोऽसि। नासि त्वमेवैकः क्रेता महिष्याः। अन्येऽपि सन्ति बहवः। हरियाणामहिष्यः क्वोत्तरप्रदेशेऽस्मिन् दरिद्रे प्राप्यन्ते? यदि क्रीताःस्युस्तास्तर्हि हस्तावेव पीडयन् स्थास्यति भवान्।

–जानासि हरियाणामहिषीणां मूल्यम्? न ते ग्रामग्रामटिकानां विक्रेतारः। सर्वथाऽर्थपिशाचास्ते। अभीष्टं मूल्यं प्राप्यैव पशुं ददति। न माध्यस्थ्यं मन्यन्ते, न चापि दाक्षिण्यं दर्शयन्ति। बलदेवोऽवदत्।

तत्सर्वमाकर्ण्य भार्याऽतङ्कितेव सञ्जाता। परन्तु यत्नसंरक्षितं महिष्याकाङ्क्षाऽग्निकणं वार्तावातैः प्रोद्दीपयन्ती पुनरवादीत्–भोः कथं युद्धात्पूर्वमेव पराजितोऽसि जातः? गच्छ तावत्। महिषीः पश्य। काऽपि तावदल्पमूल्येनापि क्रेतुमर्हा स्यात्।

–बाढम्। इदमुचितं वदसि। गच्छामि। रघुमपि सहैव नयामि। परन्तु मत्पार्श्वे चतुस्सहस्रमात्रं वर्तते। यद्येतावता कापि मनोऽनुकूला महिष्यानेतुं शक्ष्यते तर्हि ध्रुवमानेष्यामि।

भार्या प्रसन्ना जाता। बलदेवो ज्येष्ठपुत्रेण सह विपणिं गतः। गृहिणी चापि विविधान् मनोरथान् कुर्वती प्रतीक्षारताऽतिष्ठत्। होरानन्तरमेव पुत्रो धावन् समागतः। सोऽवदत्–

अम्ब! महिषी दृष्टा तातेन। परन्तु विक्रेता सार्धपञ्चसहस्रात् कथमप्यधो नावतरति। षट्सहस्रमयाचताऽसौ। तातः कथयति यन्मातुलगृहात् सार्धसहस्रमादाय त्वरितं प्रेषयेति।

दारकवचनं श्रुत्वा गृहिणी वासकक्षाभ्यन्तरं गता। पिटकात् सार्धसहस्ररूप्यकाण्यानीय त्वरितं दत्तवती, सप्रणयमवदच्च–वत्स! पृष्टे सति स्वतातं ब्रूहि यन्मातुलगृहादानीय रूप्यकाणि दत्तवती जननीति। बाढमित्युक्त्वा रघुर्जङ्घाबलेन भूयोऽपि विपणिमधावत्।

सन्ध्यातः पूर्वमेव महिषी बलदेवद्वारमागता। सर्वेऽपि प्रतिवेशिनो ग्रामवृद्धा अकारण-सपत्नाश्च महिषीं द्रष्टुं पुञ्जीभूताः। निश्चप्रचं हरियाणाभिजना महिषीयं शरीरसौष्ठवमहिम्ना दर्शनीयाकृतिरासीत्। वर्तुलः प्रोथः, साकूतदर्शनं नयनयुगलं, मांसलं नितम्बद्वयं, पीवरमूधः। पशुयोनौ समुत्पन्नाऽपि महिष्यसौ वल्गुविब्बोककुट्टमितमोट्टायितादिनायिकालङ्कारं प्रकटयन्ती पश्यतां मनांसि प्रसह्य हृतवती।

परन्त्वीर्ष्याकषायितचेतसां खलानां किमेतावता प्रयोजनम्? जिह्वाकण्डूति-विकलास्ते आसन्। प्रश्नयक्षस्तेषां हृदि निषण्णो बहिरागन्तुं पर्याकुल आसीत्। हन्त, किन्नु कुर्युस्ते? अमङ्गलप्रस्थानकर्णधारत्वकुख्यातिवशान्न तेऽग्रेसरीभवितुं क्षमा आसन्। अतएव लङ्केश्वरकल्पास्ते कमपि सहायभूतं मारीचमेव प्रतीक्षमाणा आसन्। तावदेव घटितोऽसौ सर्वार्थसिद्धियोगः।

–वत्स बलदेव! महिषी तु दोग्ध्री प्रतीयते। कियता मूल्येन क्रीता? पयोमुखः कश्चिद्विषकुम्भकल्पो वृद्धोऽपृच्छत्।

–पितामह! याचितं तु तेन षट्सहस्रमितम्। परन्तु यथाकथञ्चित्प्रह्वीभूय सार्धपञ्चसहस्रेण दत्तवान्।

–सार्धपञ्चसहस्रेण? हन्त, कीदृशं युगमायातम्। हस्तिनीमूल्येन महिषी क्रीयते! अथ, दुग्धं कियद्ददाति?

–दशलीटरमितं प्रातः। तावदेव प्रदोषेऽपीत्यवददसौ। बलदेवः वदतिस्म।

–एते जाल्माः प्रायेणासत्यजालं वयन्ति। प्राप्तावसरो दाम्भिकः कश्चित् सम्प्रति मुखदरीमुद्घाटितवान्। परन्तु यद्यष्टलीटरमितमपि ददाति क्षीरं तदापि साधु मन्ये।

–मासं यावदसौ अत्रैव वर्तते। महिषी च मत्पार्श्वे। क्षीरपरीक्षणं स्वयमेव सुकरं भविष्यति। बलदेवोऽभणत्।

–सम्यगाह भवान्। कश्चित् स्निग्धहृदयोऽवदत्। परन्तु भ्रातः! हरियाणमहिषीं महार्घां क्रीत्वा भवताऽस्मद्ग्रामस्य नाम ख्यापितम्। सोऽपि ज्ञास्यति यदस्मिन्नग्रहारेऽपि सुभगम्मन्याः केचन वसन्त्येव।

–अथ महिषीं प्रसूताऽस्ति, महिषं वा? कश्चित्पृच्छादरिद्रस्तावदेवापृच्छत्।

–महिषीम्।

–तदयमपरो महान् लाभः। स्निग्धहृदयो भूयोऽप्यवदत् खलानां हृदयानि दग्धुकामः। बन्धो बलदेव ! कतिपयवर्षानन्तरमियं महिषीवत्सतरी एव स्वमातुर्मूल्यं तुभ्यं निर्यातयिष्यति।

शनैः शनैः सम्मर्दोऽपगतः। प्रदोषध्वान्तो गाढात्प्रगाढतरः सञ्जातः। बलदेवोऽपि महिष्यावासचिन्तायां मग्नः सक्रियो जातः।

बलीवर्दकुटीरं निकषैव कुटीरेऽन्यस्मिन् महिषीनिवासो विहितः। निम्बपल्लवचयं प्रज्वाल्य मशकसंहतिर्विद्राविता। ततश्च कस्मिंश्चिद् दिवसे स्नपयित्वा महिषी निर्मलीकृता। तस्याश्चिक्कणचर्मोपरि स्वयमेव बलदेवः सर्षपतैलाभ्यङ्गं कृतवान्। शृङ्गद्वयञ्चापि तैलमिश्रितकज्जलेन समुपलिप्तम्। तस्याः गले लौहघण्टिका काचिन्निबद्धा। महिषीप्रतिष्ठानुकूलैव काचिल्लौहशृङ्खला हट्टादानीय शणविहितप्रग्रहस्थानेऽधिकण्ठं निबद्धा। शृङ्खलायाः शिरोमुखे संलग्नमासीत् किञ्चिल्लौहवृत्तं यस्मिन् स्वमणिबन्धं विन्यस्य रघुर्महिषीं भक्ष्यद्रोणीतः कुटीरं, कुटीराच्च भक्ष्यद्रोणीमानयतिस्म।

पञ्चदशदिवसा व्यतीताः। क्षीरं महिष्या न्यूनं न जातम्। तदुदन्तोत्साहिताः केचन तक्रलोभिनः पुनरपि गतागतं प्रारब्धवन्तः। बलदेवभार्याऽपि महतौदार्येण सर्वान् पायितवती तक्रम्। गुडदानमात्रेण हन्तुं शक्याः किमर्थं गरलं निपाय्य दिवङ्गमयेयुः? बलदेवगृहं भूयोऽपि समृद्धिमज्जातम्। पुनरपि बलदेवार्धाङ्गिनी दुग्धव्यापारव्यापृता जाता। दशलीटर–मितदुग्धदोहनमेव तावदासीत् कष्टसाध्यं कार्यम्। तत्कार्यमपि बलदेवभार्याधीनमेव। यतो हि बलदेवः कार्येऽस्मिन् सर्वथाऽक्षम एवासीत्। तद्भार्या पुनर्मातृगृहादेव कलायामस्यां परमशिक्षिता चतुरा चासीत्। दुग्धमासीत् कार्यान्तरजनकम्। दुग्धादारभ्य घृतं यावदनेके दायित्वविवर्ता विलसन्तिस्म यैर्निगृहीता सती बलदेवपत्नीषदपि विश्रमक्षणं न प्राप्नोतिस्म।

सुखावहस्समयः शनैः शनैर्मृदुमन्थरगत्याऽग्रेसरन्नासीत्। शीतर्तुरपि व्यतीतः। समागतो वसन्तः। वसन्तान्ते वातावरणमुष्णीभवितुमारब्धम्। अतएव रघुस्सविशेषं महिषीपरिचर्यायां दत्तचित्तोऽभूत्। प्रत्यहमसौ पूर्वाह्ण एव महिषीपृष्ठमारुह्य निकटस्थां नदीं यावद् गच्छतिस्म। तत्र महिषी होरां यावन्नदीजले विहृत्य, शरीरतापञ्चापनोद्य प्रकृतिस्था जायतेस्म। ततश्च मध्याह्नात् प्रागेव पुनरपि रघुस्तामादाय पदातिरेव गृहं प्रत्यावर्ततेस्म।

प्रकृत्यैव सलिलप्रणयिन्यो भवन्ति महिष्यः। सलिलावगाहनेन तासां क्षीरवृद्धिरपि जायत इति श्रूयते।

परन्तु को नु जानाति नियतेर्विलसितम्? किन्नु वृत्तं कस्य वृत्तान्तरस्य पृष्ठभूमिभूतमिति निश्चेतुं को नु शक्तः? सकलसमृद्धिपर्यायभूताऽपि बलदेवमहिषी तद्विपत्तिं दुस्सहां स्रक्ष्यतीति स्वप्नेऽपि नासौ वेद।

वैशाखविभावसुर्वर्षतिस्म ज्वलदनलशीकरान्। वसुधाऽपि स्वशरीरपिण्डकचयं पलाशकुसुमचयेन प्रकटयन्तीव परिलक्ष्यते स्म। कृषिक्षेत्राणि सम्प्रति शस्यशून्यान्यासन्। पिपीलिका आर्द्रतामनुसन्दधाना गभीरतरं रन्ध्रं खातुं यत्नवत्य आसन्। शृगालानां

भूविवरेष्वजगराः प्रविष्टाः। निदाघदाहोद्विग्नाः सर्वेऽपि जीवा विपर्यस्तधियः संलक्ष्यन्तेस्म।

नित्यमिवाद्यापि रघुर्महिषीं स्नपयितुं नदीतटमुपगतः। महिषी तु सरिज्जलं दृष्ट्वैव सझम्पमवातरन्नद्याम्। रघुरपि ग्रामबालकैः सह जलक्रीडां कुर्वन् चिरं यावन्नदीस्नानसुखमवाप। ततश्च बहिरागत्यासौ महिष्या लौहप्रग्रहे स्वदक्षिणमणिबन्धं निवेश्य तां पुरस्सारयन् गृहं प्रातिष्ठत। यावदेवासौ नदीतटवर्ति रसालवनमतिक्रम्य कृषिक्षेत्रमागतस्तावदेव केचिदुच्छृङ्खला ग्रामकुक्कुराः प्रोन्मत्तं कमप्यन्यं विद्रावयन्तोऽवलोकिताः। उद्वृत्तदन्तान् अहमहमिकाग्रस्तान् शुनस्तान् दृष्ट्वा भयभीता महिष्यप्यात्मसङ्कटं सम्भाव्य धावितुं प्रवृत्ता। एवमाचरन्त्यास्तस्याः शृङ्खलावृत्ते निविष्टो रघोर्मणिबन्धो दृढं कीलितो जातः। किञ्चित्कालं यावत्तु रघुर्महिष्या सार्धमधावत् परन्तु वृद्धिमुपगते सति तद्धावनेऽशक्तो रघुर्भूमौ निपपात, शृङ्खलाबद्धकाष्ठखण्ड इव कालरूपिण्या तया महिष्याऽऽकृष्यत। प्रोन्मत्तकुक्कुरोऽपि तां महिषीमेवात्मविपत्कारणं मन्यमानस्तदुपस्थं क्षतविक्षतं कृतवान्। यथा यथाऽत्मत्राणमन्विष्यन्ती महिषी विविधासु दिक्षु चङ्क्रमणं कृतवती तथा तथैव भूगर्तोद्घातततटबन्धादिप्रत्यवायानां नतोन्नतभागेषु भृशमाहतो बालको रघुः क्षतविक्षतो जातः। समग्रमेव शरीरं तस्य रक्तरञ्जितं जातम्। अन्ततश्चासौ प्रगाढमूर्च्छामापन्नः।

ग्रामप्रवेशानन्तरमेव महिषी स्थिरा जाता। प्रोन्मत्तकुक्कुरस्तु ग्रामकुक्कुरैः पञ्चत्वमुपपादितः। एवं सम्पाद्य तेऽपि शनैर्नदीतटमेव प्रत्युपगता मृतपशुमांसभक्षणार्थम्। विद्रावणमुक्ता महिषी सम्प्रति जिह्वां लोलयन्ती, धावनश्रमं लघूकुर्वती, बालकञ्च लौहदामनिबद्धं कर्षन्ती ग्रामवासिभिर्दृष्टा। केचन युवकाः बालकं कृष्यमाणं दृष्ट्वैव द्रुतमधावन्। ते रघुमणिबन्धं शृङ्खलावृत्तान्निस्सार्य तमानीतवन्तः।

हाहाकारस्समजनि निखिलेऽपि ग्रामे। यावन्ति मुखानि, तावन्ति वचनानि। किमभूत्? कथमभूत्? केन महिषी विद्राविता? कथं नु रघुमणिबन्धः शृङ्खलायां कीलितः? महिषी क्षतविक्षता कथं जाता? इत्यनेके प्रश्नाः सम्प्रति समुत्पन्नाः।

श्रुत्वेदं वृत्तं बलदेवोऽपि सपत्नीको वात्यावेगादागतः। सूनुं क्षतविक्षताङ्गमचेतनञ्च दृष्ट्वासौ कातरीभूय क्रन्दितुमारब्धवान्। समाश्वास्य तं सर्वेऽपि बालकमौषधालये नीतवन्तो यत्र तदुपचारो जातः। प्रायेण मासं यावद्रघुः शय्यामेव समाश्रयत्। सौभाग्यवशान्न तस्याङ्गं किमपि त्रुटितं, न चापि विकृतं जातम्। केवलं बहिःक्षतान्यासन्। तान्यप्यौषधिप्रभावात्त्वरितमेव विरोपितानि। स्वास्थ्यमुपलभ्य रघुः सर्वमपि वृत्तमाद्यन्तं वर्णितवान्। तत्सर्वमवगत्य बलदेवस्तु परितुष्टो जातः। परन्तु रघुजननी महिषीमेव सकलविपत्कारणभूतां मन्यमाना तां नितरां द्वेष्टुमारभत। न सा तां सम्प्रति दोग्धि, न तस्या दुग्धं क्वाथयति, न दधि निर्माति, न तक्रं, न घृतम्। कश्चिदाभीर एव ग्रामवास्तव्यः सायं प्रातर्महिषीं दोग्धिस्म। स एव समग्रमपि दुग्धं हट्टं नीत्वा विक्रीणातिस्म।

–किमिदमारब्धं त्वया? दुग्धव्यापारार्थं न क्रीता मया महिषी? कस्मिंश्चिद् दिने बलदेवोऽपृच्छद् भार्याम्।

–भो इमां रण्डां दृष्ट्वा हृदयं मे दहति। पुत्रघातिनीयं जाता। भार्याऽकथयत्।

–परन्तु न घातितोऽनया तव पुत्रः। उताहो रक्षित एव! रघुः स्वयमेव कथयति यन्महिष्या न कोऽपि दोषः। सा तु कुक्कुरसमूहैरुपद्राविततैव पलायिताऽत्मरक्षायै। मयाऽपि स्वहस्ताग्रः शृङ्खलावृत्ते निवेशित इति ममैव त्रुटिरासीदिति। यदि हस्तो मुक्तोऽभविष्यत् तर्हि रघुः सर्वथा स्वतन्त्र एव स्यात्। पशुयोनौ समुत्पन्ना सा। अलं तां मानवदृष्ट्याऽवलोक्य। न साऽहमिव त्वमिव वा विवेकसम्पन्ना।

–भवतु आत्मानमनुकूलयितुं यतिष्ये। परन्त्विदानीम्पुनः रघोर्दुर्दशां संस्मृत्य वेपते मे हृदयम्। अहो, पिशाचीयं किसलयकोमलं मद्दारकं काष्ठखण्डमिव क्षेत्रेषु कृष्टवती? भगवत्या दुर्गयैव रक्षितो मे दारकः।

बलदेवः पत्न्या युक्तिं श्रुत्वा मौनमुपगतः। मातृहृदयमौ परमार्थतोऽनुभूतवान्। अश्वत्थपत्रमिव भवति जननीहृदयम्। सन्देहवाते सञ्चरत्येव भृशं वेपते। पत्न्या औदासीन्यमवेक्ष्य सम्प्रति बलदेवः स्वयमेव महिष्याः संरक्षणे प्रयत्नपरो जातः।

गृहस्वामिनीं दृष्ट्वैव महिषी ओंय-ओंयेति मधुरस्वरैः पूर्वाभ्यस्तैस्तामाह्वयतिस्म। परन्तु बलदेवपत्नी क्रन्द रण्डे क्रन्देति ब्रुवाणाऽनवेक्षमाणैव तां गृहं प्रविशतिस्म। किं कुर्यादसौ वराकी महिषी? गृहस्वामिन्याः लालनं पालनमसौ न सम्यग्वेत्तीति न। कोमलमसृणस्तनस्पर्शानुभूतिं गृहस्वामिनीकर्तृकामपि साधु स्मरति सा। परन्तु स्वमनोवेदनां कथं प्रकटयेत्? कथं विज्ञापयेद्यदुन्मत्तकुक्कुरैरुपद्राविताऽसौ रघुं शृङ्खलानिगडितमविज्ञायैव आत्मरक्षार्थं पलायनं कृतवती? वचो व्याहर्तुमक्षमा कथं वाऽसौ क्षमां याचेत?

एवमेव पुरस्सरत्सु दिवसेषु समागताः वर्षाः। वैशाखज्येष्ठमासावपगतौ बलदेवपत्न्या महिषीसन्दर्भमात्रं चिन्तयन्त्याः। पुत्रं यमद्वारं नीतवत्यास्तस्या विक्रयणं कार्यमुताहोऽपराधस्तस्याः क्षन्तव्यः। प्रथमकल्पेन केवलमात्मपरितोष आसीत्। किन्तु कल्पान्तरेण दम्पत्योः। यावद् बलदेवपत्नी निर्णयं कमप्याश्रयेत् तत्पूर्वमेव वज्रपातस्समजनि।

वर्षर्तावकस्मादेवाऽलर्कं विषं महिषीमुन्मत्तां चकार। समुत्खातशङ्कुरसौ कुक्कुरीव करुणं बुक्कन्ती गृहाद् गृहं, कुटीरात्कुटीरं, क्षेत्रात्क्षेत्रम् धावितुमारेभे। जलं दृष्ट्वैव सोन्मत्ता जाता। यं कमपि मध्येमार्गं निपातयन्ती, उन्मत्तवदाचरन्ती, जिह्वां लोलयन्ती, संध्याशोणिताक्षी महिषी समग्रमेव ग्रामं भीतभीतं कृतवती। गृहकपाटाः सर्वेऽपि सम्पुटिताः। लघुवयस्का बालका गृहाभ्यन्तरे निरुद्धाः। केवलं याष्टीकाः प्रवयस एव बहिरलिन्देऽलक्ष्यन्त।

–होरामात्रस्य खेलाऽवशिष्टा सम्प्रति। परव्यसनमुत्सवं मन्यमानः कश्चिदुक्तवान्।

–किमुच्यते भवता? अपरोऽपृच्छत्।

–सत्यं भणामि। आलर्के विषे प्रसृते सति मरणं निश्चितम्। होरानन्तरमेव भूमौ निपत्य मरिष्यति महिषीयम्। सस्मितं भूयोऽप्यवोचदसौ।

–हे परमेश्वर! बलदेवस्य तु सर्वनाशोऽयम्। षट्सहस्रमूल्येन क्रीतेयं महिषी। वर्षं यावदपि तत्सुखं नावाप्तम्।

–अत्राप्यपराद्धो बलदेव एव। उन्मत्तकुक्कुरदष्टामपि महिषीं नासौ औषधालयं नीतवान्। विषोपशमनं सर्वथा सम्भवतिस्म।

–भोः हरीच्छेयम्! परन्तु विलक्षणैवासीन्महिषी बलदेवस्य। श्रुतं मया यद् बलदेवपत्नी केवलं घृतं विक्रीय दशसहस्राणि रूप्यकाण्यर्जितवती। महिषीमूल्यं तु प्राप्तमेव तया।

–कोऽत्र सन्देहः?

–मद्भार्या मां ख्यापितवती यत्कस्याञ्चिद्रात्रौ महिषी नारीस्वरेण बलदेवभार्यामवोचत्–स्वामिनि! पुत्रघातिनीं मां मत्वा यत्त्वं मां नितरामुपेक्षसे, तत्स्वयमेवाहं भवत्या द्वारं त्यक्ष्यामि। सम्प्रति, मत्पुत्र्या एव क्षीरं पास्यसि त्वं, न पुनर्ममेति। स्वकीयं स्वप्नानुभवमिमं स्वयं बलदेवभार्यैव सजलनयना मामकथयत्। कश्चित् तृतीयोऽवदत्।

तावदेव बलदेवपत्न्याः करुणार्तनादो व्योमविवरम्भरोऽश्रूयत।

–दृष्टं न वा? किं मयोक्तमासीत्? इयदेव यद्धोरानन्तरमेव मरिष्यति महिषीयम्। तदेव घटितम्। मृता महिषी। एहि, तत्रैव गच्छामः। स जाल्मः पुनरवोचत्।

कज्जलगिरिशिलेव महिषी भूमौ पतिताऽसीत्। जिह्वा बहिरागता तस्याः। अक्षिणी पूर्णोन्मीलिते। श्वेतकर्पटाच्छन्नमासीत् महिषीशरीरम्। बलदेवपत्नी स्वप्रवृत्तं विलापस्वरैः ख्यापयन्ती महिषीपार्श्वे स्थिताऽसीत्। हृदयभञ्जयितृ तद् दृश्यमवेक्ष्य सर्वेऽपि प्रतिवेशिनोऽश्रुविकला आसन्। सर्वेऽपि ग्रामवृद्धा बलदेवं तद्भार्याञ्च सान्त्वयन्तः स्थिता आसन्।

–बन्धो बलदेव! धैर्यं धारय। स्वकीयां पुत्रीं तुभ्यं समर्प्य मृता ते महिषी। देवताऽसीद् देवता सा। तव पुत्रमपि उन्मत्तकुक्कुरैः सैव रक्षितवती। अन्यथाऽलर्कं विषमिदमेव रघोरपि कृते प्राणसङ्कटमजनयिष्यत्। कश्चित् सहृदयोऽवदत्।

–सत्यमाह भवान्। पुत्रविपत्कारणात् बलदेवपत्नी न तां समाद्रियते स्म। वृत्तमिदं समग्रेऽपि ग्रामो जानाति। मन्ये, स्वप्राणांस्त्यक्त्वाऽसौ महिषी स्वदुष्कृतस्य प्रायश्चित्तमकरोत्।

निखाता महिषी ससम्मानं बलदेवस्य कृषिक्षेत्रकोणे यत्राऽद्यापि बलदेवपत्नी प्रतिसन्ध्यं दीपं दर्शयति।

–रचनाकालः

२०.०७.२००९ ई०।

मातुर्निमित्तम्

उत्तरप्रदेशस्थप्रतापगढ़जनपदे पट्टीनामोपमण्डलस्याभिजन आसीत् कालीदीनः। अत्रैव ढखवाख्यहट्टगामिनि राजमार्गे स्थित आसीत्तस्य ग्रामस्त्रिलोचनपुरनामा। परन्त्वितः पञ्चदशवर्षपूर्वमसौ जीविकार्थं पटियालानगरमागत्य सर्वथात्रत्य एव सञ्जातः। सम्प्रत्यसौ परमार्थतः प्रतीयते पञ्चनदीयः। निर्विघ्नमसौ व्याहरति पञ्चनदीयां भाषाम्। गुरुमुखी-लिपिमप्यसौ सम्यक्तया शिक्षितवान्। तां सरलतया लिखितुमपि शक्नोति।

यदा कालीदीनः प्रथमवारं पञ्जाबराज्यमागच्छत् तदाऽसौ नाऽचिन्तयद्यदत्रैव स्थिरो भविष्यति। वस्तुतो गृहस्यार्थसङ्कटवशादुत्तमर्णानाञ्च ऋणनिर्यातनादातङ्कितस्सन्नेव स गृहमत्यजत्। परिसरस्थग्रामाणामनेके समवयस्कास्तेषु दिवसेषु पञ्जाबराज्ये निविष्टा आसन्। ते च प्रभूतमर्थमुपार्जन्तिस्म। पश्यतामेव समेषां समक्षं तेषां भागधेयमेव परिवर्तितं जातम्। ते चात्मीयतृणकुटीराणि पक्वेष्टकाभवनानि कृतवन्तः। विश्वकोषागारस्य साहाय्येन तद्गृहसमक्षमेव बृहज्जलप्रणालयन्त्राणि स्थापितान्यासन्। द्वारि काचिद् दोग्ध्री धेनुर्महिषी वापि निबद्धासीत्। ते च हिमधवलवसनैः सज्जिताः प्राघुणिका इव गृहमागच्छन्तिस्म, दश-पञ्चदिनानि यावत्कुटुम्बे तिष्ठन्तिस्म। पक्षं यावद् भगिनीनां पुत्रीणाञ्चापि परिणीतानां कुशलमङ्गलपरिज्ञानव्याजेन यापयित्वा, कस्मिंश्चिद् दिने पुनरपि रेलयानारक्षणं कारयित्वा पञ्जाबमेलनाम्न्याऽयष्पथगन्त्र्या विलीयन्तेस्म।

अन्ततः कालीदीनेनापीयमेव निःश्रेणिरुपलब्धा। प्रथमतस्त्वसौ समासादितवान् लुधियानानगरम्। कानिचिद् दिनानि यावत्केनापि सम्बन्धिना सार्धमवसत्। चतुष्पञ्चमा-सेष्वसौ बहून् नियोगान् स्वीकृतवानत्यजच्च फगवाडाखन्नाभटिण्डानगरेषु। परन्त्वस्यामेव हानोपादानप्रक्रियायां समागच्छदसौ कस्मिंश्चिद् दिने पटियालानगरोपकण्ठस्थितं ग्रामं कमपि। अस्मिन्नेव ग्रामे काचिद् भद्रमहिलाऽसीद् श्रीमती गुरुमीतकौरनाम्नी, यदपेक्षित आसीत् कश्चिद् विश्वस्तसेवकः।

गोविन्दपुरनामाऽयमग्रहारो नाऽतिविशाल आसीत्। न चाप्यत्रासीद् धनकुबेराणां श्रीमतां वसतिः। निखिलस्यापि ग्रामस्य मुकुटमणिभूता गुरुमीतकौरा एवासीत्। तस्याः पतिः प्रायेण चत्वारिंशद्वर्षपूर्वमेव साहचर्यं जहौ। निस्सन्ततिरासीत् महिलाऽसौ। ज्ञातिदायाद-व्याजेन कश्चिद्भागिनेय एवासीत् यस्य नासीत्किमपि प्रयोजनं तस्याःसुखदुःखाभ्याम्। किञ्च, तन्मृत्योरवसरमवश्यमेवासौ प्रतीक्षमाण आसीत्।

कतिपयैरेव दिवसैः कालीदीनो गुरुमीताया हृदये स्थिरो जातः। अष्टषष्टिवर्षदेशीया गुरुमीतामसौ पञ्चत्रिंशद्वर्षदेशीयः कालीदीनः सबहुमानमम्बेति सम्बोधयितुमुपाक्रमत। वस्तुत एतदात्मीयमधुरसम्बोधनार्थं गुरुमीतैव तं प्रेरितवती। इतः प्राग् भीतभीतः कालीदीनस्तां बीजीत्येव[1] सम्बोधितवान्। परन्त्वेकस्मिन्नहनि सदाशयवृद्धाऽसौ स्वयमेवाऽपृच्छत्-कालीदीन ! स्वजननीमपि त्वं बीजीत्येव समाह्वयसि?

–न खलु। हसन्नवदत् कालीदीनः। अस्मद्ग्रामे तु बी जीतिशब्दस्य अर्थमपि न कोऽपि ज्ञास्यति। वयं तु स्वमातरं प्रीत्या माईति वदामः, अम्बेति वा।

–तर्हि मामप्यम्बामेव समाह्वय। मत्कृते तु त्वमसि पुत्रकल्प एव। गुरुमीताऽवदत्।

एवं हि, क्रमोऽयं प्रावर्तत अम्बेत्याह्वानस्य गुरुमीतायाः। आदौ तु औपचारिकं सम्बोधनमात्रमिदमासीत्। परन्तु शनैः शनैः सम्बोधनस्यास्येन्द्रजालं गुरुमीताकालीदीनयोः द्वयोरप्युपरि प्रभविष्णु सञ्जातम्। अथ च, कतिपयवर्षानन्तरं यदा कालीदीनस्य गृहिण्यपि सार्धमेव स्थातुमुपाक्रमत तदेदमेवेन्द्रजालं जन्मजन्मान्तरानुगतसंस्कारीभूय त्रयाणामपि तेषां मनस्सु प्राणेषु च समञ्जसं जातम्।

विगतपञ्चवर्षेभ्यः कालीदीनः स्वग्रामं नागच्छत्। केषां कृते गच्छेत्? जन्मदात्री तातपादश्चेत्युभावपि स्वयात्रां सम्पूर्य दिवङ्गतौ। उभयोर्दिवङ्गमनस्य न किमपि दुःखं कालीदीनकृते। यतो हि दशवर्षावधिकेन धनोपार्जनेन सर्वाश्चाप्याकाङ्क्षाः पित्रोः सम्पादितवानसौ। सोऽपि तार्णं कुटीरमपनीय पक्वेष्टकाचतुश्शालां निर्मापितवान्। द्वारसमक्षं स्वदेशनिर्मितमेव जलाकर्षणयन्त्रं स्थापितवान्। अतीव मधुरं जलं प्रकटितं भूगर्भात्। जननी तु प्रणालजलमियत्या प्रीत्या पिबतिस्म यथा तद्भवेत् श्रीखण्डपेयम्।

अग्रिमे वर्ष एव कालीदीनः पितरं मातरञ्च तीर्थाटनमपि कारितवान्। महन्थासिंहस्य जीपयानेन सर्वमपि तीर्थयात्रादायित्वमङ्गीकृतम्। स्वयमपि कालीदीनः पितृभ्यां सार्धमासीत्। कतिपयप्रतिवेशिनोऽप्यासन्। प्रायेण पञ्चदशदिवसैरेव कालीदीनः पितरौ, चित्रकूट–मैहर–मथुरा–वृन्दावन–काशी–विन्ध्याचलादितीर्थक्षेत्राणि सन्दर्शयन् गङ्गासागरं यावन्नीतवान्। समग्रेऽप्यग्रहारोद्देशे तस्य नाम स्फीतं चर्चितञ्च जातम्। धनमानगर्वितानां सवर्णगृहाणां जन्मदात्र्यः कालीदीनमेव दृष्टान्तीकृत्य स्वलटकान् कुपुत्रान् निर्भर्त्सयितुं प्रवृत्ताः।

परमेश्वरस्याद्भुतेयं कृपाऽसीत् यत् तीर्थयात्रात उपावृत्त्य मासत्रयावधावेव कालीदीनस्य पितरौ स्वेहलीलां संवृतवन्तौ। द्वयोरप्यन्तिमे समये कालीदीनस्तत्सविधे एवासीत्। मातरं पितरञ्चासौ काशीमनयत्, मणिकर्णिकाघट्टे तयोरन्त्येष्टिसंस्कारं सम्पादितवान्। गृहं प्रतिनिवृत्त्य यथोचितं श्राद्धकर्म कृतवान्। किञ्च, पञ्जाबोपावर्तनकाले हरिद्वारतीर्थेऽपि तयोरस्थिविसर्जनं विदधे।

भवतु। त्रिलोचनपुराग्रहारेण, पट्टीत्युपमण्डलेन, प्रतापगढ़जनपदेनोत्तरप्रदेशराज्येन च सार्धं कालीदीनस्यैतदवधिक एव सम्बन्धोऽभूत्। इदानीं तच्चतुःशालायां तस्य विधवा मातृष्वसा काप्यागत्य निवसतिस्म।

त्रिलोचनपुरं परित्यज्य कालीदीनस्सम्प्रति गोविन्दपुरीयः सञ्जातः। गुरुमीतकौरा परमार्थत एव स्वजन्मदात्रीव प्रतीयतेस्म कालीदीनकृते। एषु पञ्चदशवर्षेषु गुरुमीतकौरायाः जीवनेतिहासमसावियता गाम्भीर्येण समीक्षितवान् यन्नावशिष्टमासीत् किञ्चिदपि प्रष्टुम्।

---

१. पञ्जाबहिमाचलादिक्षेत्रे प्रचलितं मातृसम्बोधनम्।

अम्बायाःशैशवं, मातृगृहस्य घटनाः, विवाहः, श्वसुरालयः,भाग्यदुर्भाग्यक्रमः, सुखदुःखोपलब्धिः। किमधिकेन? अम्बायाः सुहृदः सपत्नाश्चेति सर्वेऽपि कालीदीनेनावगता आसन्। स्वकीयां सर्वामप्यनुभूतिमसौ पत्न्यामप्यन्तरितवान्।

अतिविशालमासीद् भवनं गुरुमीतकौरायाः। भवनस्य पृष्ठभागे दक्षिणभागे चातीव विस्तृता व्यायता चोपवनिकाऽसीद् यस्यामासन् निम्बुकनागरङ्गजम्बीरकदलीक्षुपाः। गुरुमीतकौराधिकारे प्रायेण पञ्चविंशतिबीघामिता भूमिरप्यासीत् या सुवर्णमुद्गलतिस्म। कृषिकार्यं ट्रैक्टरयन्त्रेणैव सम्पाद्यतेस्म। परितोऽपि विराजतेस्म समृद्धिरेव। अस्याः समृद्धेश्च निमित्त-कारणमासीदेकलः कालीदीन एव। आदौ तु गुरुमीता, कतिपयवर्षेषु, गृहकार्यैः सार्धमात्मानं युनक्ति स्म, परन्तु साम्प्रतं त्वसौ सर्वथा वीतरागा निःस्पृहा च परिलक्ष्यतेस्म। सात्मानं समर्पितवती कालीदीनस्य तद्भार्यायाश्च हस्तयोः।

एतत्सर्वं संवृत्तमेकवर्षपूर्वमेव। द्व्यशीतिवर्षदेशीया गुरुमीताऽधुनाऽस्वस्थाऽसीत्। अनेकवर्षेभ्योऽसौ पीडिताऽसीन् मधुमेहेन। ततश्चान्त्रेषु शोथोऽपि सञ्जातः। पाचनं विकृतं जातम्। एषु केषुचिद् बृहद्रोगेषु विक्रान्तेषु सत्सु कतिपयलघुरोगा अपि प्रसह्याक्रमन्त। कालीदीनस्तां तिलशो गलन्तीमवेक्षमाण आसीत्। परन्तु न सा औषधालयं गन्तुमुद्यततेस्म, न चापि स्वरोगविषये सविस्तरं किञ्चिदाख्यातुमुत्सहतेस्म। शनैः शनैः स्थितिरियती शोचनीया सञ्जाता यदिन्द्रियाणां नियन्त्रणमप्यवसितम्। अनवबोध एव वस्त्राणि अशुचीनि भवितुं प्रवृत्तानि।

इदानीं व्यग्रो जातः कालीदीनः। सोऽधावत् पटियालानगरं, ततश्चानयत् कमपि दक्षभिषजं भूयांसं शुल्कराशिं प्रदाय। स खलु सम्यक्तया गुरुमीतां परीक्षितवान् दत्तवांश्चौषधीः। औषधोपचारस्य क्रमः प्रारब्धोऽभूत्।

कालीदीनस्य भार्याऽपि, मातुस्तादृशीं दुरवस्थामवेक्ष्य, स्वखट्वां मातृसमीपमेव न्यस्तवती। मातुरुत्थापनम्, उपवेशनं, शौचगृहप्रापणम्, अशुचिवस्त्रपरिवर्तनं, प्रक्षालनञ्च तेषां, यथासमयमौषधिप्रदानं, सावकाशे च समये मातुः शीर्षोपधाने निषद्य तच्छिरःसंवाहनमित्येतत्सर्वमेव कालीदीनपत्न्या एव दायित्वजातमासीत्। एकस्मिन् दिवसे तु स्थविराम्बा स्फुटितहृदया रोदितुं प्रवृत्ता। सम्भ्रममापन्ना कालीदीनभार्या। बहुशः पृष्टाऽप्यम्बा न किञ्चिदप्याख्यातवती। केवलमनवरतगत्याऽरोदीदेव। धावं-धावं वधूर्बहिर्गतवती, कालीदीनञ्चाहूय सार्धमानीतवती।

-अम्ब! किमस्ति कष्टम्? लालयन्नपृच्छत् कालीदीनः। अहमस्मि तव पार्श्वे! किङ्कृतेयं तर्हि चिन्ता तावकी? अम्ब! सर्वथा स्वस्था भविष्यसि। नाहमिदानीं तव किमपि श्रोष्यामि। त्वां नेष्यामि कस्मिंश्चिदनुत्तमे औषधालये, उताहो पटियालानगरादेव श्व एव कमप्यन्यं श्रेष्ठभिषजमानेष्यामि।किन्त्वम्ब! अलं रोदनेन। किं शोचसि त्वं यद्भवतीमस्यां दशायामुपगतां दृष्ट्वा कालीदीनः प्रनष्टो भविष्यति?

एतावन्निशम्यैव गुरुमीताऽधीरा सञ्जाता। समधिकप्रगाढममकारेण सार्धं सा परिदेवितुमारभत। तदुन्मुक्तपरिदेवने समाविष्टेवासीत् तदखिलजीवनवैयर्थ्यभावव्यथा, करुणा च। सा प्रसह्याचकर्ष कालीदीनं निजोत्सङ्गे, भृशं क्रन्दन्ती चावोचत्–कालीदीन! मम जातक! कथं न त्वया मत्कुक्षितो जन्म गृहीतम्?

–न तेन किञ्चिदत्याहितम्। जननीजातकयोः सम्बन्धार्थं कुक्षिर्नापेक्ष्यते। मातः! कथं भवती चिन्तयत्येवम्? ममत्ववात्सल्याभिभूतः कालीदीनोऽकथयत्।

–त्वं नावगमिष्यसि मदीयां पीडाम्। कालीदीन! किञ्चिदन्यदेव ब्रवीम्यहम्।

–अम्ब! सर्वमवगच्छाम्यहं किञ्चित् किञ्चित्। परन्तु किमुत्तरं ददानि? यदि तव कुक्षितो नाहं जातस्तर्हि नेदं तव, प्रत्युत मदीयमेव दौर्भाग्यम्। परन्त्वम्ब! इदं भवत्यावधेयं यत् यदि नाम तव कुक्ष्या सह मम कोऽपि सम्बन्धो नाऽभविष्यत् तर्हि सहस्रक्रोशदूरात् देशात्, स्वग्रामपरिवेशं पितरौ चापहाय कथमहं तवान्तिकमेवागमिष्यम्? अतिविशालमिदं पञ्जाबराज्यम्, कुत्राऽपि गन्तुं शक्त आसम्।

–कालीदीन! अतएव विलपाम्यहं यत् यदि नाम युवां नात्राभविष्यतं तर्हि कां दुर्दशामहं प्राप्स्यम्! तव गृहिण्या यादृशी परिचर्या विहिता मदीया, का न्वपरा कर्तुं शक्ताऽसीत्?

–पश्य मातः! अस्माकमुत्तरप्रदेशे आभाणकमिदं प्रचलति यत् तरुवृन्ते पक्वादाम्रात् समधिकं मधुरं भवति बुसोष्मणि पक्वमाम्रम्।

अवगच्छसि न वा? रसालागमावसरे लोका आम्राणां परिपाकतन्त्रं समाश्रयन्ति आम्रभोजं प्रदातुम्। अपक्वाम्रफलानि, पिटकेषु निधाय, सर्वतोऽपि समाच्छाद्यन्ते। तानि च पिटकानि, बहिस्तो मृत्तिकयोपलेप्य बुसागारे[१] निधीयन्ते। गोधूमबुसानां तापोऽतीव मधुरो भवति। अम्ब! सप्ताष्टदिवसैरेव, गोधूमबुसानां तस्मिन्नेवोष्मणि पाकमुपेत्याम्राणि सुधामधुराणि जायन्ते।

यद्यहं तव कुक्षितस्सञ्जातोऽभविष्यं तर्हि मातस्त्वामवगन्तुं सम्भवतः न शक्तोऽभविष्यम्। त्वद्वात्सल्यावाप्तिं खलीकृत्याऽहमपि व्यग्रोऽभविष्यं तवोत्तराधिकारं धनैश्वर्यं वा समवाप्तुम्। यथा हि व्यग्रोऽवलोक्यते जोगिन्दरमहाशयः। पुत्रमहिम्ना दायादमहिम्ना वाऽहमपि तवोपरि स्वकीयं स्वत्वाधिकारमदर्शयिष्यम्। सम्भवतस्तवोपेक्षा-मप्यकरिष्यम्। आत्मीयो भवत्येव कष्टदायकः।

परन्तु नाहं त्वद्वृन्ते पक्वमाम्रम् यत्प्रायेण तिष्ठेदम्लमेव। अम्ब! अहमस्मि त्वद्वात्सल्यबुसे परिपक्वमाम्रम्। अतएव मम पुत्रीभावस्य माधुर्यमेव किञ्चिदन्यदस्ति। सत्यं ब्रूह्यम्ब! किमहं भवत्यै न प्रतीये मधुरः?

---

१. भुसौल इति भाषायाम्।

कस्मिंश्चिद् दिने मम गृहिणी विशेषमनःस्थित्या मामपृच्छत्भोः किमर्थमत्र शङ्कुं निखन्योपविष्टोऽसि? किमत्रैव जीवनं यापयितव्यम्? कदाचित्तु इतः प्रस्थातव्यमेव। तदिदानीं प्रत्यावर्तनं चिन्तयितव्यम्। अन्यथा दारका मध्य एव लम्बिष्यन्ते। न पञ्चनदीयाः भविष्यन्ति न चाप्युत्तरप्रदेशीयाः।

तदेयं मया तत्क्षणमेव समुत्तरिता–शङ्कुमत्र निखन्योपविष्टोऽहं केवलं मातुर्निमित्तम्। श्रुतं न वा? मातुर्निमित्तम्। यावदास्तेऽत्र जननी, तावदयं शङ्कुर्नोत्खनिष्यते। किञ्च, अम्बा यदि स्वयमेव शङ्कुमिमं समुत्खाय दूरं क्षिपति तर्हि का गतिः? प्रत्यावर्तिष्येऽहं त्रिलोचनपुरम्। श्रूयतां भोः! इतोऽग्रे नायं प्रश्नो भूयोऽपि प्रष्टव्यः। अम्बां कस्याश्रये परित्यजानि?

–तर्हि, किम्मया भूयोऽपि कदाचित्पृष्टम्। कालीदीनगृहिणी सत्वरम् अवोचत्।

–न खलु। न जातु पृष्टम्। इयमेव ते भद्रता। प्रीतिं प्रकटयन् कालीदीनोऽवदत्।

–किमहं किञ्चिदूनं लालयाम्यम्बाम्? ममाऽपि मनोऽस्यामेव रममाणं तिष्ठति। श्वश्र्वाः श्वसुरस्य चापि यां सेवां कर्तुं नाहं क्षमा जाता, तत्सेवावसरं प्रभुर्मह्यं दत्तवान्। किमिदं न मे भागधेयं पुण्यं वा? धन्याऽस्मि जाताऽहम्। पापानि मेऽपगतानि। जीवनं मे सफलीभूतम्।

भोः शरीरस्यास्य कोऽभिमानः? अन्तिमे समये केन किं भोग्यमिति को नु जानाति? आवयोरिदमेव सुमहत्पुण्यं यदावामत्र स्वः जननीं सर्वप्रकारेण सम्भालयितुम्। दिनावधावम्बा दशधा वस्त्राणि अशुचीनि कुर्यात्, दशधाऽहं तानि परिवर्तयिष्यामि, प्रक्षालयिष्यामि। न तावत् खट्वामहं कर्तिष्यामि।

अकस्मादेव गुरुमीतकौरा चकम्पे। सा खलु हिन्दीं सम्यक्तयाऽवदत्, अवागच्छच्च। तथापि कालीदीनस्य तद्गृहिण्याश्च भाषायां प्रयुक्तः कोऽपि देशजशब्दस्तां विस्मापयतिस्म। तदसावपृच्छत्–वधुके! किमिदं नाम खट्वाकर्तनम्?

–अये मातः! अलन्तेन। कालीदीनः प्रत्यवदत्। यदियं कथयति तदत्र पञ्जाबेऽपि भविष्यत्येव। समग्रेऽपि देशे भवति तत्सर्वम्। ज्ञास्यत्यपि भवती, परन्तु केनचिद् रूपान्तरेण।

–तथाप्यवगमय माम्। साधिकारस्वरेणावोचत् गुरुमीतकौरा।

–अम्ब! यदा कुटुम्बिनो मुमूर्षुस्थविराणां प्रतिक्षणपुरीषमेहनाभ्यामुद्विग्ना जायन्ते तदा ग्रामेषु खट्वाया वयनं मध्य एव कृन्तन्ति, तदधोभागे च पिटकं किमपि स्थापयन्ति। इदमेव समुच्यते खट्वानिकृन्तनम्। अयमस्ति ग्राम्यो विधिर्मलोत्सर्गस्य।

–भोः परमार्थं न कथं भवान् प्रकाशयते? अम्ब! खट्वाकर्तनमस्माकं देशेऽतिकलङ्कास्पदं मन्यते। अनेन सर्वथैतदुक्तं भवति यत्कुटुम्बिनस्सम्प्रति मुमूर्षोः सेवया परिचर्ययोद्विग्नाः सञ्जाताः। वाञ्छन्ति च ते सम्प्रति मुक्तिं तस्मान्मुमूर्षुस्वजनात्।

यो हि हतभाग्यो मातुः पितुर्वा खट्वां कृणत्ति तस्य मुखं तु कालुष्योपलिप्तं जायत एव। ततस्स मरणानन्तरं यावदपि बृहत् श्राद्धं समाचरेत्, भोजं वा दद्यात् तेन न किमप्यन्तरं जायते। जनश्रुतिस्तु प्रचलिता भवत्येव यदस्यैव पितुः खट्वा निकृत्तासीदिति।

–तर्हि वधुके! न त्वं मम खट्वां कर्तिष्यसि? गुरुमीता सप्रणयमपृच्छत्।

–अम्ब! खट्वा निकृत्येत तव शत्रूणाम्। अरे शुभं व्याहर शुभम्! अतिशीघ्रमेव भवती स्वास्थ्यं लप्स्यते। मया तु तव पुत्रस्यापि जीवनं सङ्कटापन्नं कृतं वर्तते। सम्प्रत्ययं श्वस्तने प्रभात एव भवतीमौषधालय नेष्यति, प्रख्यातं वा कमपि भिषजं नगरादानेष्यति।

–मम दारकाः! द्वाभ्यां युवाभ्यां यदौषधं मां पायितं, वाहेगुरोः कृपया, तेनैवाहं स्वस्था भविष्यामि। एहि, द्वावपि इषदधिकं समीपमेतम्।

कालीदीनस्तद्भार्या च पर्यङ्कात् लम्बमानयोर्गुरुमीतकौरपादयोरभितः समागतौ। गुरुमीताऽपि द्वयोः पृष्ठयोर्हस्तं सारयन्ती, मुखमण्डलं पृष्ठे निधाय, प्रसुप्ता जाता। निमेषमात्रेणैव दम्पतीभ्यामनुभूतं यत्तयोः पृष्ठभागौ अम्बायाः सन्तप्ताश्रुभिः क्लेदितौ।

आस्तां तावत्। न भिषगन्तरस्यावश्यकता जाता। प्रथमभिषज औषधैरेव स्वास्थ्यमलभताम्बा। तदतिरिक्तञ्च, कालीदीनस्य भार्या विविधानां पौष्टिकशाकानां रसं तां पायितवती। पञ्चदशभिर्दिनैरेव द्व्यशीतिवर्षदेशीया गुरुमीता सकृत्पुनः स्वोपवनिकायां गृहसमक्षञ्च सञ्चरितुं प्रवृत्ता। तत्समये कालीदीनस्य दारिका वेला, या वयसाऽनुजात् ज्येष्ठासीत्, गुरुमीतसहचरी भवतिस्म।

त्रियामादृष्टो दुःस्वप्न इवाऽयमपि सङ्कटकालोऽपयातः।

अनेके मासा व्यतीताः। इदानीं पक्वशस्यस्य लवनं प्रारब्धं जातम्। कालीदीनस्य परिश्रमो विलक्षणमेव विवर्तं प्रकटीचकार। गुरुमीतकौरक्षेत्रेष्वन्नलक्ष्म्या वैभवविलासौ दर्शनीयावेव सञ्जातौ।

अकस्मादेव जोगिन्दरस्य जीपयानमागच्छददृश्यत। गुरुमीतकौरा गृहसमक्षमेव सुखासन्दिकामुपविश्य चायं पिबतिस्म। कालीदीनोऽपि गृहकार्येषु व्यापृत आसीत्। जोगिन्दरः क्षामच्छाय इव प्रतिभासते स्म।वार्तामसावेव प्रारभत।

–श्रुतं यद्भवत्स्वास्थ्यं समधिकं विकृतं जातम्?

–श्रुतं पठितं वा? गुरुमीता सव्यङ्ग्यमवादीत्। सम्भवतः मदीयं पत्रमवाप्तं त्वज्जनन्या।

–आम्। जनन्येव विज्ञापितवती, प्रत्यग्रवृतं परिज्ञातुञ्च प्रेषितवती माम्।

–साधु। स्वयमागन्तुं नोत्सेहे? तस्याः स्वास्थ्यन्तु वर्ततेऽनुकूलम्? गुरुमीताऽपृच्छत्।

–बाढम्। स्वास्थ्यं तु तस्याः सम्यगेवास्ते। जननी भवतीं प्रष्टुं किमपि मामादिष्टवती। तदिदं यत्सम्प्रति भवत्यशीतेरप्युपरि तिष्ठति। स्वास्थ्यमपि समञ्जसं न लक्ष्यते। कदाचिदपि किमपि भवितुं शक्नोति तर्हि.......।

अकस्मादेव जिह्वा जोगिन्दरस्य भङ्गुरा जाता। आहोस्वित् तत्साहसमेव क्षीणं जातम्। परमेश्वर एव जानीयात्। यद्वा गुरुमीतकौराया जीर्णनयनयोरुद्वृत्तो दावानल एव तं व्यदहत्। नासावग्रे किमपि वक्तुं शक्तो जातः।

–कदाचिदपि किमपि भवितुं शक्नुते, तर्हि किं कर्तुं भणति तवाम्बा? मत्कल्याणार्थं किमप्यवश्यं कथयिष्यति। पुत्रक ! कथं न तत्तथ्यं समुद्गिरसि? शुष्कजिह्वयाऽवोचत् गुरुमीता।

–भोः जनन्या सार्धं भवत्या या वार्ता प्राग्जाता तत्सन्दर्भ एवाम्बा पृष्टवती। भवती यं समयं निश्चिनोतु तदाहं मातरं वाक्कीलञ्च गृहीत्वाऽगच्छेयम्। न्यायालयस्य कार्यं यावत्या त्वरया समाप्येत तावदेव वरम्।

–तिष्ठ तावत्। इदानीमेव विज्ञापयामि दिनाङ्कम्। इत्यभिधाय गुरुमीता गृहाभ्यन्तरं गतवती। किञ्चित्कालानन्तरमेवासौ हस्ते किमपि कर्गजमादायोपावृत्ता।

सा कालीदीनं तद्भार्याञ्चापि समाह्वयत्। तत्समक्षमेव चासौ जोगिन्दरं सम्बोध्यावदत्–वत्स ! कर्गजमिदं प्रयच्छ निजाम्बायै। जानासि, किमस्तीदम्? इदमस्ति प्रतिलिपिपत्रकं मदुत्तराधिकारशपथपत्रस्य। स्वजननीं ब्रूहि यत्राहमेकाकिनी। ममास्ति कश्चिदौरसस्सूनुः कालीदीननामा। स एव ममोत्तराधिकारी। स एवेदानीं मम दाहसंस्कारं सम्पादयिष्यति। स एव सम्पादयिष्यति मम श्राद्धकर्म !

न त्वया, त्वज्जनन्या वा मच्चिन्ता करणीया। इयमम्बा तस्या एव, यो हि जेजीव्यते तस्याः कृते! मातुर्निमित्तमिति।

अकस्मादेव जोगिन्दरो जीपयानं चेतयित्वा प्रनष्टः।

रचनाकालः, लाडनूँ
२२.०७.२००९ ई०।

वाडवाग्निः

श्वस्तस्यासीत् मुक्तिदिवसः। काराधिकारी, नियोगमशून्यीकर्तुं गमनात्प्राक् तमद्य कार्यालये आहूतवान् इदमेव विज्ञापयितुम्। परन्त्वसौ भावशून्यमुद्रयैव समाचारमिमं श्रुतवान्। प्रसन्नतायाः का कथा? प्रत्युत तस्य मुखमण्डले विषादरेखाः उट्टङ्किता जाताः। तं हतप्रभं वाचंयमश्चावलोक्य काराधिकारी पृष्टवान्–सुबरन! अनेन समाचारेण किं न जाता ते प्रसन्नता?

–नहि श्रीमन्! नैतादृशम्। थूत्कृतं निगरन्निवाऽवादीदसौ।

–एतादृशं नास्ति, तर्हि कीदृशमस्ति? अये भद्र! कारामुक्तिसमाचारश्रवणमात्रेणैव जनाश्चर्चरीं नृत्यन्तोऽवलोक्यन्ते। अथैकस्त्वमसि, यो हि श्वासततिमाकृष्य तिष्ठति। एवं प्रतीयते यथा न खलु मुक्तेरपितु मृत्युदण्डस्य वृत्तं श्रावितम्?

–क्षमां याचे श्रीमन्! लज्जावनतः सुबरनोऽवदत्।

–भवतु, अलमन्यथा गृहीत्वा। तमाश्वासयन् काराधिकारी अभणत्। गच्छ, सुखं स्वपिहि। सुबरन! श्वस्तनो दिवसः पुत्रकलत्रसङ्गमनस्य दिवसोऽस्ति। गच्छ, अप्रमत्तस्तिष्ठ।

कारागाराधिकारिणोऽन्तिमं वाक्यमेव कृपाणीभूय तद्यकृतं व्यदारयत्। का नु भार्या? को नु दारकः? को नु चित्तानन्दः? इदानीं क्व नु तज्जीवने हरीतिमा? मरुस्थलसिकतासन्निभोऽसौ दन्दह्यमान आसीत्सम्प्रति। अस्मिन्नु मरुस्थले सुखक्षुपकस्य क्वाऽङ्कुरणाशा?

स्वकीयेऽन्धकाराच्छन्ने प्रकोष्ठेऽधोमुखोऽसौ न्यपतत्। निरन्तरालरोदनवशात्तत्पूर्वकायकञ्चुकस्य बाहुरार्द्रतामुपगतः। दुर्वारस्मृतिर्जित्तोस्तं शातयतिस्म। जयेन्द्र इति नाम कृतमासीत् तत्स्वामिन्या। परन्त्वसौ तं जित्तुरित्यभिदधान एव दुर्लालयतिस्म, सान्त्वयतिस्म।

–तात! कथानिकां श्रावय। भल्लूकस्य पशुचारकस्य च कथाम्?

–स्वपिहि वत्स! रात्रिस्समधिका जाता। श्वः श्रावयिष्यामि कथानिकाम्।

–तात! इदानीमेव तावच्छ्रावय। अकस्मादेव जित्तोः सानुनयस्वरोऽश्रूयत।

–भवतु, श्रावयामि शृणु–आसीदेकः पशुचारकः। सुबरनः प्रारभतेस्म कथानिकाम्। कथानिका प्रवर्तमानैव तिष्ठतिस्म। परन्त्वसौ ज्ञातुमिदं नापारयत् यत् कदा जित्तुः प्रगाढं प्रसुप्तो जातः।

एतावता कालेन त्वसौ पञ्चदशवर्षदेशीयः स्यात्। परन्तु क्वत्यो भविष्यति? कस्यां वा स्थितौ भविष्यति? सुबरनस्य हृदये प्रबलोत्कण्ठेव समुदतिष्ठत्। विवशीभूयासौ असहाय इव सहिक्कं रोदितुमारभत। स स्वकीयामेवान्तर्वाचं श्रोतुं प्रारभत–हे परमात्मन् कस्य पापस्य दण्डं त्वं मयाऽनुभावयसि? तवापि कश्चित् स्वामी भविष्यति यो हि त्वत्तस्समधिकतरो भविष्यति। पृष्टे सति, तस्मै किमुत्तरं दास्यसि? यौ हि स्वामिनीस्वामिनावहं पार्वतीशिवाविव पर्यपूजयम् तयोरेव गृहे स्तेनकर्मणो दण्डः? तयोरेवोपरि हत्योन्मुखाक्रमणस्य

दण्डः? दशवर्षाणां कृते सश्रमकारावासदण्डः? समादरप्रतिष्ठे गते, तदतिरिक्तमेव! केन मुखेन कारागाराद् बहिर्निस्सरिष्यामि? जित्तुश्चेत् प्राप्येतापि, किं मुखं दर्शयिष्यामि तम्?

व्यतीतप्रायं जीवनं स्मृतिपथं तस्यागन्तुं प्रारभत। तस्य पिता कानपुरमहानगरवासिनो धनकुबेरस्य श्रेष्ठिनश्चिरञ्जीलालस्य भृत्य आसीत्। तस्यां पीठिकायामपगतायामेवाऽसौ श्रेष्ठिसुपुत्रस्य नरोत्तमलालस्य सेवकस्सञ्जातः। वस्तुतो नरोत्तमलालस्य बालसखाऽसावासीत्। वयसा नरोत्तमात्प्रवरो द्विवर्षाभ्यां चतुर्वर्षैर्वा। यत्प्रेम श्रेष्ठिचिरञ्जीलालस्य सुबरनपितुश्च मध्य आसीत् ततोऽपि प्रगाढतरं प्रेम, प्रगाढतरा च मैत्री नरोत्तमसुबरनयोर्मध्ये जाता। सम्बोधनमात्रेणैवोभौ स्वामिसेवकावास्ताम्। परन्तु परमार्थतस्तौ निबद्धावभूतां बन्धुत्वस्य कोमलरज्जुना। समर्पणभावस्तु तयोरीदृश आसीद्यत् सुबरनो नरोत्तमार्थं प्राणानपि समर्पयितुमुद्यत आसीत्।

प्रायेण युगपदेव, किञ्चिदग्रे पश्चाद्वा, द्वयोर्विवाहोऽप्यभूत्। अद्भुतमेव विधानं विधेर्यदुभयोः पितरावपि वर्षद्वयान्तराल एव दिवङ्गतौ जातौ। नरोत्तमोऽलभत धनकुबेरस्य पितुःकोटिमितमूल्यं व्यवसायं, सुबरनश्चाप्यलभत स्वामिसौधं निकषा स्थितं पैत्रिकं लघु भृत्यकुटीरम्। उभावपि निजोत्तराधिकारेण सुखिनावास्ताम्। किञ्च, दुःखस्य लक्ष्मण-रेखोभयोर्मध्ये कृष्टाऽभूत् केवलं जित्तोरागमनानन्तरम्। पञ्चवर्षदेशीये सञ्जातेऽपि जयेन्द्रे श्रेष्ठिन्याः कुक्षिः रिक्तैवासीत्।

श्रेष्ठिनी सुशिक्षिता प्रसन्नहृदया च महिलाऽऽसीत्। यदा सुबरनस्य पुत्रस्सञ्जातस्तदा सा सूतगृहगीतानि अगापयत्, कर्मशालाया महिलाभ्यो वायनकमपि व्यतारीत्। नामकरणमपि सैव कृतवती जयेन्द्र इति। परन्तु शीर्णहृदयो जातस्सुबरनः। स खलु स्वामिनं स्वामिनीञ्चावलोक्यैव आत्मसन्तप्त इव जायतेस्म। अनार्हतेव प्रतिभातिस्म स्वप्रसन्नता। स्वाभ्युदयमसावपूर्णमेवाऽनुभवतिस्म। सोऽचिन्तयत्-पितामहजीवनकालादेव सर्वमप्यावयोस्तुल्यतुल्यमेवाऽसीत्। कथमिदानीं तर्हि परमेश्वरेण भेदः समुत्पादितः? अहन्तावत् नरोत्तमबन्धुना सार्धं खेलित्वा कूर्दित्वा वयस्को जातः। परन्त्वधुना मम जित्तुः केन सार्धं खेलिष्यति? क्व गोपयानि जित्तुम्? जयेन्द्रावाप्तिजन्यानन्दतुल्यं किमहं ददानि स्वामिने स्वामिन्यै वा?

–स्वामिनि! कथं न कमपि भिषजं परामृशति भवती? सम्प्रति विलम्बो जायते। कस्मिंश्चिद् दिने सुबरनस्य गृहिणी श्रेष्ठिनीं प्रसह्यापृच्छत्।

–त्वं किमवगच्छसि यन्नाहं परामृष्टवती? श्रेष्ठिन्यवोचत्। परन्तु मम सन्दर्भे किञ्चिदपि न भवितुं शक्नोति।

–स्वामिनि! कथमिदन्तावत्? भवत्यां किमस्ति नैयून्यम्?

–त्वं नावगमिष्यसि। समस्यामिमां महिलाभिषगेवावगच्छति। एवं मन्त्रयमाणाया एव श्रेष्ठिन्या लोचनेऽश्रुविकले सञ्जाते।

सा स्नानगृहव्याजेनापक्रान्ता, किञ्चित्कालानन्तरञ्च हस्तमुखे प्रक्षाल्योपावर्तत।

सुबरनस्य गृहिणी पुनरपि श्रेष्ठिनीं न किमपि प्रष्टुं समर्थाऽभूत्। यद्यपि प्रश्नास्तस्या अनेके आसन्। स्वामिनी जातकं जनयितुं कथं न शक्नोति? किन्नु नैयून्यं तस्याम्? क्वचिदिदं नैयून्यं स्वामिन्येव स्यात्! यदि तावत् स्वामी सन्ततिविहीनस्तिष्ठति तर्हि किं भविष्यति? इदं धनमैश्वर्यम्! इयं कर्मशाला! इदं किङ्करभृत्यपरिजनसैन्यम्! इदञ्च राजसिंहासनम्! हे परमेश्वर! रघुनाथादृते को नु भोक्ष्यतीदमयोध्याराज्यम्?

प्रायेण सुबरनतत्पत्न्योश्च मध्ये इममेव प्रसङ्गमभिलक्ष्य वार्ता प्रवर्तितेस्म। समस्ततर्क-वितर्कानन्तरमन्ततस्तावुभावेव परमेश्वरमेवाभ्यर्थयन्तौ निजास्थां प्रकटयतः स्म-प्रभोर्गृहे विलम्बोऽवश्यमेव वर्तते, परन्तु न तावदन्यायः। कस्मिंश्चिन्नु दिवसे स्वामिन्याः क्रोडोऽवश्यमेव शिशुविलसितो भवितेति।

हन्त, तदेव न संवृत्तम्। परन्त्वकस्मादेव तत्सर्वं घटितं यत्कदापि कल्पितुमप्य-शक्यमासीत् केनापि।

जन्माष्टम्या अवकाशे, सुबरनमेकमात्रं विहाय सर्वेऽप्यन्ये सेवककर्मकराः दौवारिक-रक्षकादयो गृहाणि प्रतिष्ठिता जाताः। सुदृढरक्षाप्रबन्धवशादस्मिन् विशालहर्म्ये विगतपञ्चविंशतिवर्षेभ्यो न कोऽपि प्रवेष्टुं शक्तोऽभूत्। न दौवारिकाः कथमपि प्रवञ्चयितुं शक्यन्तेस्म। कदाचित्तु श्रेष्ठिन्या भ्रातृव्य एव एवंविधहृदयन्तुदपृच्छाभिः पीडितोऽभूद् यदसौ रुद्रभावमुपगतः। स खलु स्वकीयं समग्रमेव कोपं स्वपितृष्वसुरेवोपरि न्यगिरत्। तस्मिन्नेव श्रेष्ठिहर्म्ये काचिद् दारुणा घटना घटिता।

आयुधैः सज्जिता दस्यवो निशीथे भवनमाक्रान्तवन्तः। नरोत्तमं पशुमारं प्रहृत्य भुशुण्डीपृष्ठैस्ते श्रेष्ठिनीतः कुञ्जिकां गृहीतवन्तः। रूप्यकाणि रत्नाभूषणादीनि यावदुपलब्धानि ते स्वायत्तीकृतवन्तः। किञ्च, पलायनं कुर्वाणास्ते कतिपयाभूषणानि सुबरनस्याप्यङ्गणे प्रक्षिप्य, भवनप्राकारं समुल्लङ्घ्योपद्रुताः। इदं सर्वमपि वृत्तमेवं घटितं यथा सुबरनः तद्गृहिणी वा कर्णपरम्परयाऽपि किञ्चिदाकर्णितुं नाशकताम्।

नरोत्तमो रक्षिस्थानं विज्ञापितवान्। रात्रावेव रक्षिणस्समायाताः। गहनान्वेषणकार्यं प्रारब्धम्। सुबरनोऽप्यन्विष्टः। पतिपत्न्यौ धावन्तौ हर्म्यमागतवन्तौ। स्वामिदशामवलोक्य सुबरनो मुखे प्रोञ्छन्या अञ्चलं निवेश्य रोदितुं प्रवृत्तः। नरोत्तमो न किञ्चिदवादीत्। केवलमविश्वस्तभावेन सुबरनाभिमुखं निर्निमेषदृष्ट्या पश्यन् स्थितः। इदं तस्य निर्निमेषावलोकनमेव सुबरनस्य जन्मकुण्डल्यां मारकयोगस्सञ्जातः।

निखिले दस्युप्रकरणे, एकमेव तथ्यमगत्या सविशेषं रेखाङ्कितं जातं यदेतावत् सर्वं स्वामिभवने दुर्घटितं, गृहसेवकः पुनस्सर्वथाऽज्ञातवृत्तोऽतिष्ठत्? कथमिदं सम्भवति? गहनान्वेषणसन्दर्भे, सुबरनगृहाजिरे समवाप्तानि श्रेष्ठिन्या द्वित्राणि रौप्याभूषणान्यपि,

रक्षिणां सन्देहं दृढीचक्रुर्यदस्मिन् साङ्गोपाङ्गकर्मणि सुबरनोऽपि क्वचित्संलिप्तो वर्तत एव। सम्प्रति रक्षिसमक्षमेकमेव कार्यमवशिष्टमासीत्-सत्योद्घाटनम्! श्रेष्ठिदम्पत्योः सम्मुखमेव राजरक्षिणः सुबरनं निर्दयं ताडितवन्तः। अस्थिसन्धिषु नृशंसतया वेत्रप्रहाराः कृताः। समस्तमेव संहननं सुबरनस्य शोणिताक्तं जातम्। परन्तु किन्नु सत्यं सुबरनः समुद्गिरेत्? किमिदं यदसावेव दस्यूनामन्त्रितवान्? यद्वा, सोऽपि मुषितवस्तुजातेंऽशहरोऽस्ति?

विवश आसीत् सुबरनः। असहाय आसीदसौ। वेत्रप्रहारान् सहमानोऽप्यसौ केवलं शून्यनयनाभ्यां नरोत्तमाभिमुखं पश्यन्नासीत्। स्वामिन्!स्वामिन्निति क्रन्दन्नासीत्। परन्तु न किञ्चिदभाषत तत्स्वामी। वस्तुतोऽसौ तु सुबरनं प्रत्यसहिष्णुः समजायत। सर्वाः परिस्थितयः परस्परं पूरण्यस्सञ्जाताः, येन किञ्चित् कथासूत्रं निर्मीयतेस्म यल्लोभान्धस्य गृहसेवकस्यैव सङ्केतमवाप्य दस्यवः समुपक्रान्ताः।

सर्वोप्याश्रयः, सर्वोऽपि विश्वासः सुबरनस्य केन्द्रितं आसीत् नरोत्तम एव। सोऽवगच्छतिस्म यत्स्वामिनि विद्यमाने सति रक्षिणः किमहितं तस्य कर्तुं क्षमाः? स्वामी तु प्रत्यक्षमेवाभिधास्यति यत्सुबरनो न मे भृत्यमात्रम्। बन्धुकल्पोऽयम्। मम बालसखाऽयम्। मम सुखदुःखयोर्नियतसहचरोऽयमस्ति। मत्कृते प्राणानपि विस्रष्टुं शक्नोत्ययम्। अयम्पुनर्दस्युकर्म करिष्यति?

परन्तु न किञ्चिदप्यकथयत् स्वामी। अवशिष्टमत्याचारं रक्षिणो रक्षिस्थानके निर्व्यूढवन्तः। सत्यमुद्गारयितुं सर्वेऽपि नृशंसोपाया रक्षिभिः स्वायत्तीकृताः। कतिधैव सुबरनो निस्संज्ञो जातः। परन्तु तत् सत्यं तत्पार्श्व एव नासीत् यद्रक्षिणस्तन्मुखादुद्गारयितुमैच्छन्।

किञ्च, नरोत्तमस्य साक्ष्येन भृत्याङ्गणोपलब्धकतिपयाभूषणतथ्येन च सुबरनो न्यायालये, स्वाम्युपरि नृशंसाक्रमणं दस्युकर्म चाभिलक्ष्य, दशवर्षावधिकेन कारावासदण्डेन दण्डितो जातः। कारायां प्रविष्टे सत्येव परिवर्तितस्तस्य संसारः। अनाख्याय किञ्चिदसौ निष्क्रियस्तिष्ठतिस्म। कारागाराधिकारिण आदेशमवाप्य सोऽग्रेसरीभूय सर्वाण्मपि कार्याणि सम्पादयतिस्म। परन्तु कस्यापि कस्यचिदपि प्रश्नस्योत्तरं न ददातिस्म। किञ्च, कदाचित् वाक्यमेकमेव भणतिस्म-बन्धो! सर्वमिदं वंशीधरस्य लीलामात्रम्।

कारागारे सर्वे सहचरास्तं साध्वितिपदेन सम्बोधयन्तिस्म। इदमेव तस्याभिधानं सञ्जातम्। काराधिकार्यपि तं सुबरनसाधुशब्देनैव समाह्वयतिस्म।

सुबरनस्य न कोऽप्यात्मनीन आसीत्। रक्षिस्थानके, कर्णपुरस्थकारागारे च पत्नी प्रायश आगच्छतिस्म। जित्तुरपि मिलितुमागच्छदेव। परन्तु दण्डानन्तरं, कारावासे परिवर्तिते सति, सोऽपि क्रमस्समाप्तिमुपयातः।

समुत्सन्नं सञ्जातं सुबरनस्य नीडम्। साम्प्रतं त्वसौ परमहंसानां स्थितिमुपगत आसीत् यत्र न भवत्येव कश्चिद् भेदः स्वपरयोः।

मुक्तिदिवसोऽपि समागतोऽन्ततः। सहचराः सर्वे मालाभिः पुष्पैश्च सज्जीकृत्य सुबरनसाधुं विसर्जितवन्तः। काराधिकार्यपि तस्मै प्रयच्छितवान् वेतनभूतरूप्यकाणां सम्पुटकम् यदासीत्तस्य पारिश्रमिकम्। पृष्ठं सदयं सारयन्नधिकारी प्रोक्तवान्–सुबरन! कारां विसृजन् किञ्चिद्भणितुं वाञ्छसि?

स्तम्भितकण्ठस्सुबरनः केवलं वाक्यमेकमवदत्–श्रीमन्! श्रेष्ठिनं नरोत्तमं सहोदर-निर्विशेषमहमवागच्छम्। तद्गृहलुण्ठनकर्मणा सह न मे कोऽपि सम्बन्धः। उताहो लुण्ठितं तेनैव ममानन्दनिर्भरं जीवनम्। समुच्छिन्नोऽहं तेन। श्रीमन्! वंशीधरस्य लीलेयम्। भवानपि एतान् सर्वान् कारावासिनः बन्धुदृष्ट्यैव पश्यतु। एतेषु अनेके मादृशाः स्युर्ये नास्य जन्मनोऽपितु कस्याप्यपरजन्मनः पापं भुञ्जन्ति।

काराधिकारी सुबरनं दृढं परिसष्वजे। ततश्च पृथक्कुर्वन् तं नयनयोर्नयने निवेश्यावदत्–सुबरन साधो! त्वं सत्यमेव साधुरसि। न त्वामहं कदापि विस्मर्तुं शक्ष्यामि। गच्छ, आनन्दनिर्भरस्तिष्ठ। कलत्रं दारकञ्चान्वेष्टुं प्रयतस्व, समुत्सन्नञ्चात्मीयगार्हस्थ्यं पुनरपि प्रतिष्ठापय।

सुबरनः सम्पुटितहस्ताभ्यां काराधिकारिणं प्रति कृतज्ञतां ज्ञापितवान्, ततश्च प्रतस्थे।

भार्यादारकौ तु अन्वेष्टव्यावेव। परन्तु कथम्? तत्तु सम्भविष्यति कर्णपुर एव। क्वचिन्नरोत्तमो भूयोऽपि षड्यन्त्रान्तरे कस्मिंश्चित् संलग्नं न कुर्यात्? धनदुर्मदोऽसौ जनः। ततोऽपि वज्रमिव हृदयहीनः। हृदयमेवाऽभविष्यत्तस्य तर्हि सुबरनविरुद्धं साक्ष्यं किमदास्यत्? एवं सति तु कारागारनिषेवणस्य काप्यपेक्षैव नासीत्। इदानीं त्वसौ अतिसरलतया रक्षिस्थानके वादाख्यां प्रस्तोष्यति यत्कारावमुक्तः सुबरनः प्रतीकारभावनया ममैव हत्यां कर्तुमापतित आसीत्। तदाऽहं किं कर्तुं शक्तो भविष्यामि? कां नु निर्दोषतोपपत्तिं दास्यामि?

परन्तु स्वामिनी नैतादृशी। स्मृतिं कृतवान् सुबरनो यत् कर्णपुरीये कारागारे तद्भार्या तं विज्ञापितवती यत् स्वामिन्यतितरां रोदिति सुबरनहेतोः। सा खलु सुबरनं सर्वथा निर्दोषमपि मनुते। स्वामिनी स्वपतिं प्रबोधयितुं बहुशः प्रयत्नमपि कृतवती, परन्तु निर्विवेको नरोत्तमो निर्भर्त्स्य तन्मुखं पिदधे।

तत् स्वामिन्यन्तिकमेवाभ्युपगन्तव्यम्। सैवाऽख्यातुं शक्ष्यति यत्तस्या भार्या क्वोपगता? परन्तु स्वामिन्या सह सङ्गमनं तादृशं स्याद्यथा श्रेष्ठी नरोत्तमः ज्ञातुमपि न शक्नुयात्। अथ चेत् तदागमनवृत्तं ज्ञातमेव, नरोत्तमेन तन्निग्रहणादिकं प्रारब्धमेव, तर्हि? तर्हि.....।

महाप्लावनमिवैकं समुत्थितं सुबरनहृदये। शान्तशान्तोपवने चक्रवात इव समुदतिष्ठत्। देवपीठोपरि स्थापिता वत्सलाऽम्बामूर्तिः सहसैव मुण्डमालिनी महाकालिका समजायत। सुबरनसाधोः धमनीषु रक्तप्रवाहस्तीव्रतरो जातः। प्रतीयतेस्म यथा स्नायवस्सतडत्कारं विदीर्णा भविष्यन्ति। प्रभूतकालानन्तरं सुबरनो भूयोऽपि निजान्तराले कामपि वाचमश्रौषीत्–यदि सम्पदैश्वर्यमदमूर्च्छितो नरोत्तमो पुनरपि किमपि क्षुद्रत्वं समाचरति तर्हि क्षुरकमेव प्रवेक्ष्यामि तदुदरपिटके।

कर्णपुरमागतस्सुबरनः। मन्दवृष्ट्यनन्तरं मेघा विपर्यस्ता आसन्। वातावरणमतितरां कमनीयमासीत्। रेलस्थानके रक्षायानमारुह्य सुबरनः स्वामिभवनं यावदागतः। दौवारिकाः परिवर्तिता आसन्। सर्वमपि नूतनमिव प्रतिभाति स्म। कुत्रापि नाऽक्रियत कोपि प्रश्नो विरोधो वा। सुबरनो विश्वस्तभावेन हर्म्यान्तरं प्रविष्टो जातः।

अकस्मादेवाऽसौ सकम्परोमाञ्चं स्थितो जातः। स्वामिनी केनापि सुदर्शनेन बालकेन सार्धं, प्रतोलीं निकषा, भित्तितिरस्करिण्यां तिष्ठतिस्म। बालकं दृष्ट्वैव सुबरनः प्रत्यङ्गं पुलकितो जातः। सोऽचिन्तयत्-धन्योऽसि वंशीधर! त्वया श्रेष्ठिन्या उत्सङ्गः पूरितः। इदमेवाकाङ्क्षितमावाभ्याम्। एतत् चिन्तयत एव सुबरनस्य लोचनेऽश्रुपर्याकुले जाते।

सम्प्रत्यसौ श्रेष्ठिन्याः समक्षं स्थित आसीत्। उभावपि कतिपयक्षणान् यावन् निर्निमेषं परम्परं पश्यन्तौ स्थितावास्ताम्। श्रेष्ठिनी विलपितुं प्रवृत्ताऽऽसीत्। ततश्चासौ नेत्रे प्रमृष्टवती। वेत्रासन्दिकायामुपविशन्ती साऽवदत्-सुबरन! मदन्तिके समुपविश। बह्व्यो वार्ताः करणीयास्त्वया सह।

दृष्ट्वैव सुबरनं प्रत्यभिज्ञातवती श्रेष्ठिनी। अतएव नावशिष्टः कश्चिदवकाशः कस्याश्चिदौपचारिकतायाः कृते। सुबरनोऽपि श्रेष्ठिनीसमक्षमेवाधिदूर्वं समुपविष्टः। साऽभणत्-सुबरन! जानाम्यहं यत्त्वं कारागारान्मुक्तिमवाप्य समागच्छसि। अहमिदमपि जानामि यद् दस्यव आत्मपक्षतो रक्षिणां ध्यानमन्यथाकर्तुमेव मम कानिचिदाभूषणानि तवाङ्गणे क्षिप्तवन्तः। त्वं सर्वथा निर्दोषोऽसि। अस्य गृहस्य लुण्ठनेन नासीत्तव कोऽपि सम्बन्धः। इदमेव तथ्यमहं तव स्वामिनमप्यवगमयितुं भृशं प्रयत्नपराऽभूवम्। परन्तु नाऽसौ अवगन्तुं शक्तोऽभूत्। अवगतं तेनाऽपि तदैव, यदा पश्चात्तापादृते न किमपि तत्पार्श्वेऽवशिष्टमासीत्। त्वत्कृते न्यायालयतो दण्डः समुद्घुष्ट आसीत्।

सुबरन! श्रेष्ठिनं सर्वदैव त्वं भ्रातृकल्पमवागच्छः। इदमनुभूयैव तं क्षमस्वेदानीं यदन्तिमश्वासं यावदसौ पश्चात्तपतिस्म तव रक्षणेऽसमर्थतया।

-तत्किम् ....।

सुबरनो वाक्यमापूरयेत्, तत्पूर्वमेव श्रेष्ठिनी प्रोक्तवती-बाढम्। सुबरन! श्रेष्ठिवर्यो नरोत्तमस्सम्प्रत्यस्मिन् संसारे नास्ति। तव गृहिण्यपि विसृष्टा। नाऽहं तामसहायस्थिता-वमुञ्चम्। साऽस्मिन्नेव भृत्यभवने यथावदासीत्। तथाऽपि जलान्निष्काषिता शफरी कियत्कालं यावज्जीवेत्? वस्तुतस्तव भार्या तु जीवितुमेव नेच्छतिस्म। कस्मिंश्चिद् दिनेऽनाख्यायैव किञ्चिदसौ लोचने पिहितवती। तस्या इहलीलासंवरणानन्तरमेव श्रेष्ठिवर्योऽपि प्रस्थितः। द्वितीयो हृदयाघातस्समजनि तस्य। यावद् भिषगागच्छेत् तावंदसौ परमार्थतः प्रसुप्तो जातःकेवलमेतावदुक्त्वा......। श्रेष्ठिनी सञ्जाताऽवरुद्धकण्ठी। न किमपि वक्तुमपारयत्।

सुबरनस्तु स्वकीये हृत्सागरे वाडवाग्निमादाय समागत आसीत्। तस्य समुद्गके तु सुरक्षितमासीत् रामपुरीयं निशितच्छुरकं श्रेष्ठिवधार्थम्। परन्त्विदानीमसौ वाडवाग्निः,

सागरस्य शीतलजले, स्वयमेव निर्वापणमनुभवन्नासीत्। स्वामिनी सम्प्रति शान्ताऽऽसीत्।

स्वामिना किमुक्तमासीत्? सुबरनः श्रोतुं समुत्कण्ठित आसीद्यत् श्रेष्ठी नरोत्तमस्तन्निर्दोषतां घोषितवान्। यदि श्रेष्ठिना नरोत्तमेन एतावदुक्तं स्यात्तर्हि सुबरनः पापमुक्त एव सञ्जातः। नेदानीं तस्य कोऽपि संरम्भः, पश्चात्तापो वा।

–सुबरन! श्रेष्ठिवर्य इदमवादीत् यत्त्वं जयेन्द्रं दत्तकं विधेहि। स एवेदानीं मम दायादः।

मया तदेव समाचरितम्। प्रत्यभिज्ञातस्त्वया स्वजित्तुः? सुबरन! अयं बालकस्तव पुत्रको जित्तुरेवास्ति। तावकीना तु केवलं शिथिलस्मृतिरस्य पार्श्वे। किञ्च, स्वमातरं सम्यक्तया स्मरति। अहमाह्वयानि तावज्जयेन्द्रम्। त्वया सह प्रत्यभिज्ञानमस्य सम्पादयामि।

एतत्सर्वं निशम्यैव अवागतिष्ठत् सुबरनः। विलपन्नसौ श्रेष्ठिन्याश्चरणयोरशेत। प्रभूतकालानन्तरमसावात्मानं प्रकृतिस्थं विधातुं शक्तो जातः। हस्तौ सम्पुटीकुर्वन्न-सावेतावन्मात्रं कथयितुमपारयत्–स्वामिनि! साम्प्रतं जित्तुर्मदीयो जित्तुर्नैवास्ति। अधुनाऽसौ भवदीयो जयेन्द्रोऽस्ति। दायादोऽसावस्मत्स्वामिपादानाम्। स्वामिनि! तस्य सर्वोत्तमं परिचयस्त्रोतस्तु भवत्येव। इदानीं मामपसर्तुमनुजानीहि स्वकीये पैत्रिके कुटीर एव। तत्रैवाऽस्ति मम संसारः। तत्र निवसन्नेवाऽहं भवदीयं संसारं निपुणमवलोकयन् स्थास्यामि। पृथग्भूतोऽपि स्वजित्तोस्तव जयेन्द्रं साध्वात्मसात्करिष्यामि।

सुबरनस्साधुः स्वलघुकुटीराभिमुखं प्रस्थितोऽभूत्–यत्र तस्यातीतजीवनं प्रसुप्तमासीत्। प्रसुप्ता आसन् पित्रोः संस्मृतयः, पत्न्याः प्रणयमुद्राः, जित्तोश्च कथानिकाः।

वाडवाग्निरपि सागरजले क्वचिदस्तमुपगत आसीत्।

●

पितृष्वसा

साऽसीन्मम पितृष्वसा। नामासीत्तस्या मुक्तेति। मोतीनाम्नी सेदानीमपि जीवत्यशीति-वर्षदेशीया। अक्षिप्रत्यक्षीकृता तज्जीवनयात्रा मया लिख्यते।

यदाऽहं षड्वर्षदेशीयो जातस्तत एवारभ्य पितृष्वसुर्जीवनं सम्यक् स्मरामि। तया सार्धमेव नक्तन्दिवमहं न्यवसम्। आप्रभातकालात्प्रदोषं यावत् प्रतिक्षणं मम तयैव सार्धं व्यतियाति स्म। सा मां भोजयतिस्म, पाठशालां नयतिस्म। आत्मना सार्धं कृषिक्षेत्रं प्रतिवेशं वा नयतिस्म। सान्ध्यकाले भूयोऽपि मां भोजयित्वाऽऽत्मना सहैवाधिपर्यङ्कं शाययतिस्म। आप्रगाढनिद्रं सा मां लोककथानिकामपि काञ्चित् श्रावयतिस्म। वस्तुतः जननमहिम्नैव जननी मत्कृते महनीयाऽऽसीत्। परन्तु पालनपोषणदृष्ट्या तु पितृष्वसैव मम सर्वस्वभूताऽऽसीत्। मातरमहं सुखं त्यक्तुं विस्मर्तुं वा क्षम आसम्। परन्तु पितृष्वसारं तु निमेषमात्रमपि दूरीकर्तुं नाहं प्राभवम्।

चिरकालं यावच्छिलीन्ध्रकोमलधीरहं तथ्यमिदं न ज्ञातवान् यत् कस्मात् पितृष्वसा मे स्थिरतया ममैव भवने तिष्ठति? अन्याः पञ्चषाः पितृष्वसारस्तु समये समये भवनमागच्छन्तिस्म। विशेषतश्च विवाहाद्यवसरेषु समागतास्ता पक्षं मासं मासद्वयं यावद्वाऽध्युष्य भूयोऽपि श्वसुरालयं प्रतिष्ठन्ते स्म। तावता कालेन मातृमुखादहं ज्ञातवान् यद् विवाहात्प्राक् कन्यकाः मातृगृहे निवसन्ति, विहानन्तरञ्च ताः श्वसुरालयं गच्छन्ति। श्वसुरालय एव सञ्जायते तासां सुस्थिरं निवासस्थानम्। इदं रहस्यं ज्ञात्वैव ममोत्कण्ठाऽपरमपि रहस्यमवगन्तुं प्रस्फुटाऽभूत् यत् पितृष्वसा मुक्ता कथं न स्वश्वसुरालयं गच्छति? कथम्पुनः सैवैका नियतरूपेण मातृगृहे एव निवसति? यथाऽहमिदानीं स्मरामि जननी प्रश्नमिमं मदीयमुपेक्षितवती। यदि किमपि समाधानमपि दत्तवती सा, तन्नाऽहं स्मराम्यधुना। परन्तु व्यतीतेष्वेव कतिपयवर्षेषु गूढरहस्यमिदं स्वयमेव मत्कृते प्रकाशितं जातम्। ज्ञातम्मया यत् पितृष्वसा मे बालविधवाऽऽसीत्। बालविधवा पतिविहीनेत्यर्थः। तत् पतिहीना मे पितृष्वसा किमर्थं श्वसुरालयं गच्छेत्? कस्य कृते वा गच्छेत्? तत एव पितृष्वसा मे पितृपितृव्यसहोदरपरिजनादिसंरक्षणे मातृगृहे एव निर्भयं निवसतिस्म।

यथा-यथाऽहं समधिकवयस्को जातस्तथा-तथैव पितृष्वसुर्जीवनग्रन्थस्य प्रतिपृष्ठं मन्नयनसमक्षं समुद्घाटितं जातम्। प्रतिपृष्ठाङ्कितं तदश्रुवृत्तं मम हृदयममथ्नात्। पितृष्वसा मां कोमलवयसं बालमात्रमनुभवतिस्म। बालकमात्रं, गूढसंवेदनावगमासमर्थं भोजनशयनधावनकूर्दनादिकातरं भ्रातृतनयम्। परन्त्वहमासं पितृष्वसृजीवनव्यथासमीक्षको महायोगी शुकः। अहमासं तज्जीवनगुहान्तःप्रविष्टः कश्चिदनुसन्धाता यं पितृष्वसा मे न सम्यक्तया वेद। पितृष्वसृप्रतिबिम्बकल्पोऽहं सम्प्रति तज्जीवनविवर्तानां मूको द्रष्टा, सहृदयोऽनुभविताऽकिञ्चित्करस्सहायश्च सञ्जातः। कदा सा रोदिति, कुत्र रोदिति, किमर्थं रोदिति, कियत्कालं वा रोदिति, कस्माद्वा रोदितीति सर्वमहं निपुणनिपुणं निरीक्ष्यावेदिषम्।

रोदनमूलस्याद्यन्तगृहसन्दर्भस्याध्ययनं कृत्वाऽहं पितृष्वसारं सम्यगवगन्तुं प्रयत्नमकरवम्। कदाचिदाधिविद्धोन्निद्रा सा प्रसुप्तेषु सत्सु परिजनेषु, शय्योपर्येव सहिक्कं रोदितिस्म। तदोन्निद्रोऽहमपि गाढसुप्तिमभिनयन् तामतितरां परिष्वज्य तद्वक्षस्संसक्तोऽभवम्। सापि मां गाढमवष्टभ्य बाहुभ्यां, करतलस्पन्दनैः सारयन्ती लालयतिस्म।

पितृष्वसा मुक्तैवासीदध्वपरिश्रान्तस्य मे शिविका। कुटुम्बिभिः सन्तर्जितस्य मे सान्त्वना। अन्विष्यमाणस्य मे सुरक्षिता गोपनस्थली। दुर्मनायमानस्य प्रमोदवनिका। तामवाप्याहं स्वर्गसुखमिवालभम्। मात्रा निर्भर्त्सितः सन् कदाचिदहं प्रातराशमकृत्वैव पाठशालामगच्छम्। मध्याह्नेऽपि रोषवशाद् भोजनार्थं गृहं नोपावर्तम्। तावदेव कश्चिद् बालसखा मामुपेत्य कथयतिस्म–भोः पितृष्वसा ते समागता। साधोर्दुःखहरणस्यापणे[१] स्थिताऽसौ त्वां प्रतीक्षते इति।

तच्छ्रुत्वैवाऽहं वायुवेगेन धावन् साधोरापणं यावदागच्छम्। पितृष्वसा मुक्ता शिलापट्टे निषण्णा मां दृष्ट्वैव प्रत्यङ्गं पुलकिता जायते स्म। साधोः कूपाज्जलमाकृष्य मम हस्तौ मुखञ्च स्वहस्तेन प्रक्षाल्य, शाटिकाञ्चलेन प्रमृज्य, पितृष्वसा स्वहस्तेनैव मां कवलानि ग्राहयन्ती निपुणमुपदिशति स्म–वत्स! मातरि रोषो न कर्तव्यः। सा ते जननी। यदि नामासौ निर्भर्त्सितवती, तर्हि शान्तेन त्वया सोढव्यमेव। पश्य, तव जनन्यपि बुभुक्षितैव तिष्ठति साम्प्रतं यावत्। अन्नावमानो न कदापि कर्तव्यः। अद्यागताऽहं तव पितृष्वसा त्वां भोजयितुम्। परन्तु चिन्तय तावत्। यदि नाऽहमभविष्यमहमत्र तदा को नु त्वामभोजयिष्यत्?

एवमादि सवात्सल्यं सम्मन्त्र्य सा भूयोऽप्यकथयत्–सम्प्रति गच्छाध्ययनार्थम्। अहमपि द्वित्राणि वस्तून्यापणात् क्रीत्वा गृहं गमिष्यामि।

तन्निशम्याहं पाठशालामुपगतः।

साधोर्दुखहरणस्यापणे प्रायेण सर्वाण्यपि नित्योपयोगीनि वस्तुजातान्युपलभ्यन्ते स्म। वृद्धो दुःखहरण आसीत् कर्पूरपुरग्रामवास्तव्यः। सोऽग्रहारः प्रायेणेतः क्रोशद्वयदूरे स्थित आसीत्। परन्तु बरजीग्रामवासिनां निवेदनवशात्, प्रारम्भिकपाठशालास्थितिञ्चा-वलोक्याऽसावत्रापि काञ्चिद् भूमिं क्रीत्वा, लघुशालामेकां निर्माय तत्रापणं स्थापितवान्। आपणेऽस्मिन् हरिद्रालवणधान्यकहिङ्गुजीरकमरिचबृहदेलालघ्वेलालवङ्गकर्पूराद्रकशुण्ठी-कृष्णतिलकटुतैलमृत्तिकातैलगुडतण्डुलद्विदलघृतादीनि वस्तून्यासन्। एतदतिरिच्य, पाठशालाबालकानां कृतेऽपि भूयसी सामग्री तत्रोपस्थिताऽऽसीत्। साधुर्दुःखहरणः प्रत्यहं प्रायेण नववादने समायातिस्म स्वघोटकपृष्ठोपरि विक्रेयवस्तुजातं निधाय, स्वयञ्चोपविश्य। आदिवसमापणकार्यं दृष्ट्वा प्रायेण रात्रावष्टवादने स्वग्राममुपावर्तत। मध्याह्ने तन्नूतनवयाः पत्नी भोजनमादायोपयातिस्म। प्रायेणोभावपि रात्रौ सार्धमेवागच्छताम्।

पश्चात्तु दुःखहरणः पत्न्या, पुत्रेण च सार्धमत्रैव स्थिरो जातः। भगवत्या महाकाल्याः

---

१. दुखहरन साहु।

कृपयाऽसौ पुत्रवान् जातः। अतएव कर्पूरपुरग्रामाद् बहिः ठक्कुराणामाम्रवणे तेन कालीमन्दिरमप्येकं निर्मापितम्। तदुपलक्ष्य ब्राह्मणभोजनञ्चापि कारितवान्। स्वभावत एवातिमधुरो, वत्सलो, नर्मप्रियो विदूषकनिसर्गश्चासीत्साधुर्दुःखहरणः। सान्ध्यकाले तु दुःखहरणस्यापणोऽयं जनाकीर्णो जायते स्म। दलितवसतेः काश्चन रूपगर्विता रसिकयुवत्यो दत्तसङ्केता अत्र समायान्ति स्म। छविल्लप्रकृतिभिः क्षत्रियैः सार्धं क्वचिदेकान्तमाश्रित्य खदिरपूगीलवङ्गादिचूर्णं सेवमानास्ताः स्वकन्दर्परुजं शमयन्तिस्म।

।।२।।

ततश्चैकस्मिन् सन्ध्याकाले मातुस्समक्षमेव पितृष्वसा मामवदत्–पश्य जात! अयं तव विष्टरः। इदमास्तरणम्। इदमुपधानम्। इदमावरणम्। इदञ्चापि रक्तवर्णमङ्गप्रोञ्छनम्। अद्य रात्रौ त्वं पृथक् खट्वायां शेष्व।

तदतर्कितं दण्डकल्पं निर्णयनं श्रुत्वा क्षामच्छायोऽहमभवम्। नीहारनिचितकदलीकिसलयमिव जातं मम नयनयुगलम्। स्फुरिताधरोऽहं रुदितप्रायः सञ्जातः।

–पितृष्वसः! जानासि त्वं यत्त्वत्तः पृथग्भूय नाहं स्वप्तुं पारयिष्यामि। निद्रैव नायास्यति। कातरीभूय मयोक्तम्।

–जानामि, जानामि वत्स! परन्तु नेदानीं त्वं पूर्ववत् शिशुरेव। दर्पणे स्वचिबुकं नासातलञ्च पश्य। रोमराजयः कालिमानं दधति। वर्षानन्तरमेव क्षौरकर्माप्यपेक्षितं भविष्यति। जात! सम्प्रति त्वं युवकोऽसि जातः। मया सह स्वपन् त्वं कथानिकामेव श्रोतुं नटसि, न किञ्चित्पठसि। अतएवेदानीं ते पृथक् शयनमेव श्रेयस्करम्। तस्मान्मया तव विष्टरादीनि व्यवस्थितानि।

–पितृष्वसा युक्तं भणति। इतोऽग्रे पृथगेव स्वप्स्यसि। जनन्यपि प्राह। विवशोऽहमभवम्। कोपपत्तिर्मया दीयेत? निश्शब्दस्ततोऽपासरम्।

तत एवाहं पृथक् शयितुं प्रवृत्तः। नियतसाहचर्यात् पितृष्वसुर्वञ्चितोऽहं जातस्तथाप्यन्येषु सन्दर्भेषु सैवासीन्मम संरक्षिकेदानीमपि।

इदमासीद् व्यतीतखिस्तशताब्दस्य षष्ठं दशकम्। भारतमिदानीं स्वतन्त्रराष्ट्रमासीत्। समाजोऽतित्वरितगत्या परिवर्तमान आसीत्। शासनबलमवाप्य ग्रामस्य कासुचन वसतिषु कोऽप्यभूतपूर्व एवानन्दोत्साह आसीत्। ग्रामं विहाय, नगरगमनस्य कापि नूतना प्रवृत्तिः सहसैव सञ्जातासीत्। ग्रामे श्रमिकाः कृच्छ्रेणैवोपलब्धा आसन्। रजकाणां गृहेष्वपि बालका विद्यालयगन्तारस्सञ्जाताः। लोकस्य वस्त्रप्रक्षालनं तेषां कृतेऽवमाननकरं प्रतिभाति स्म। न पूर्ववत् कुम्भकाराःपर्वसु विविधानि मृत्पात्राणि प्रायच्छन्। स्कन्धहाराश्चापि शिविकां वोढुं न व्यवसिताः। लोकतन्त्रे समुपक्रान्ते सत्येव भारतीयसमाजः पर्याकुलः शतसहस्रविवर्तसङ्कुल इव प्रत्यभासत।

तावदेव, कस्याञ्चित् सन्ध्यायां डाकपालः पत्रमेकं दत्तवान् मम पितृव्यहस्ते। विचित्रं विलक्षणं सर्वथाऽविश्वसनीयमेवासीत् पत्रमिदम्। तथापि समग्रोऽपि कुटुम्बः पत्राभिप्रायेण रोमाञ्चितो जातः। पत्रमिदं प्रेषितमासीत् मम पितृष्वसुर्मुक्तायाः पतिदेवेन। पत्रेऽस्मिन् लिखितमासीत् यदहं भगवत्कृपया जीवितोऽस्मि। केषाञ्चित् जाल्मानां षड्यन्त्रवशात् विपद्ग्रस्तोऽहं जातः। परन्तु मृत्युसङ्कटं तीर्त्वा सम्प्रति मुक्तोऽहमस्मि। यथाशीघ्रं गृहमागच्छामि। निहोराग्रामवासिना केनापि महापुरुषेण ममोद्धारे महान् प्रयत्नः कृतः। तत्सर्वमागत्यैव वक्ष्यामीति।

पत्राभिप्रायोऽयं वनदवाग्निरिव कर्णात्कर्णं प्रसरन् होरामात्र एव समग्रेऽपि ग्रामे संव्याप्तः। मम गृहद्वारे शुभैषिणां सम्मर्द एव पुञ्जीभूतः। सर्वेऽपि पितामहाः पितृव्याः ग्रामवृद्धाः प्रतिवेशिनः पत्रमिदं व्याख्यातुं सन्नद्धा अभूवन्।

पितृष्वसुः पत्युः रहस्यमयतिरोभावानन्तरं प्रायेण पञ्चदशवर्षाणि व्यतीतानि। अवधावस्मिन् न किमपि पत्रं तस्याधिगतमासीत्। पितृष्वसाऽपि मे सम्प्रति अष्टाविंशतिवर्षदेशीया सञ्जाता। हन्त कियन्त एव वासन्ता वासरा मधुयामिन्यश्चापगताः? कियन्त एव स्वप्नगन्धमादनमहीधराः सुपर्णवेगेन हृदयाम्बरे समुत्थाः विध्वस्ताश्च। ग्रामसरणीषु यान्तीःवधूशिविकाः निपुणं निरीक्षमाणाया मे पितृष्वसुर्लोचने जडीभूते। पश्चादूढाः ग्रामकन्यकाः पुत्रवत्यस्सञ्जाताः। परन्तु नियत्यभिशप्ता गौतमगेहिनीव पितृष्वसा पाषाण्येव समतिष्ठत्। नाऽयातो रघुनन्दनो रामस्तज्जीवने, न चाप्यसौ शापमुक्ता जाता।

इतस्तावद्भवनाद्बहिः कथंकथिकानां सम्मर्द आसीत्। ततोऽपि गृहाभ्यन्तरे ग्रामवृद्धाज्जुकानां कुटुम्बस्त्रीणाञ्च विपुलसमवायः पुञ्जीभूत आसीत्।

बहिस्तावत् प्रश्नाः केचन विचारणीया आसन्। पत्रारम्भे कश्चिद् दिनाङ्को न दत्तः। स्थानमपि न निर्दिष्टं वर्तते। शिक्षिताः केचिद्युवका पत्रालयमुद्रां पठितुं प्रत्यभिज्ञातुं वा प्रयत्नपरा आसन्। दुर्भाग्यवशात् केवलं जौनपुरनगरपत्रालयमुद्रैव सुस्पष्टासीत्। स्थानीयपत्रालयमुद्राऽपि केनचिदंशेन पठ्यमाना प्रत्यभिज्ञाताऽभूत्। परन्तु काप्यन्या पत्रालयमुद्रा नासीत्। एतदेव द्वैधं संशयञ्च जनयतिस्म। यदीदं पत्रं कलिकातातो गौहाटीतो वा प्रेषितं, कथं न तत्रत्या काऽपि डाकमुद्रा सन्दृश्यते? अत्रावधेयमिदं यन्मम पितृष्वसुः पतिः कैश्चन मित्रैः सार्धं कलिकातामेव गतवानासीत् सेवावृत्तिव्याजेन। पृष्टे सति ते च सहाया आख्यातवन्तो यदसौ मासं यावत् प्रायेण सङ्गच्छतेस्म। कदाचिदसौ कामाख्यागमनसङ्कल्पमपि स्वकीयं प्रकाशितवान्। परन्तु कामाख्यादर्शनार्थमसौ गतवान् न वेति ते न ज्ञातवन्तः। कलिकातायामपि मासानन्तरमसौ सर्वथा विलुप्त एव जातः।

निहोराग्रामविषयिणी चर्चाऽपि जाता। वार्तया ज्ञातमभूत् यज्जौनपुरजनपद एव निहोराख्यौ द्वौ ग्रामौ स्तः। एकस्तावत्केराकतसमीपम्। अपरश्चापि जफराबादं निकषा। तत्किं तत्र गत्वा ज्ञातुं यत्नः क्रियेत यदेतद्ग्रामवास्तव्यः कश्चित् कलिकातायां सेवारतोऽस्ति?

एवमपि सम्भाव्यते यत् किमपि सत्यमुद्घाटितं भवेत्। केचन हितैषिण इदमपि प्रास्तुवन् यत् पितृष्वसुः श्वसुरालयमपि गत्वा ज्ञातव्यमिदं यदेतादृशं किमपि पत्रं तत्राप्यागतं न वा? पितृष्वसुः पतिः श्वसुरालये पत्रं प्रेषयेत्, किन्तु स्वजन्मगृहे न प्रेषयेत् यत्र कुटुम्बिनो निवसन्ति। कथमिदं सम्भवति?

भवतु, यथाऽयं कुतूहलाक्रान्तहृदयस्सम्मर्दः पुञ्जीभूतस्तथैव शनैः शनैरपक्रान्तः। मद्गृहे पुनरपि सामान्यस्थितिस्सञ्जाता। महिलासमवायेऽपगते सति मम जननी सप्रणयमेकान्ते पितृष्वसारमपृच्छत्-सखि! त्वं किं चिन्तयसि?

-किमहं चिन्तयानि? सर्वमहं जाने। पितृष्वसा निर्वापितेवाऽवदत्।

-किं जानासि? स्पष्टं भण। अम्बा प्राह।

-सर्वमिदं षड्यन्त्रमात्रं त्रिलोचनस्य। पितृष्वसाऽवदत्।

-त्रिलोचनस्य षड्यन्त्रम्? कथमिदं वक्तुं पारयसि?

-ममात्माऽयं मां मन्त्रयते। भ्रातृजाये! सत्यं भणामि। स एव क्षुद्रात्मा सर्वमिदं पापं समाचरति। यदि नाम पतिर्मे जीवितोऽभविष्यत्तर्हि पत्रात्प्राक् स एव स्वयमागतः स्यात्। पितृष्वसाऽवदत्।

अम्बा तूष्णीमुपगता। पितृष्वसुर्युक्तिस्सर्वथाऽवितथाऽऽसीत्। अतएव सा भूयोऽपि न किञ्चिदपृच्छत् पितृष्वसारम्।

।।३।।

पितृष्वसा मे मुक्ताभिधानाऽतीव कमनीयाकृतिरासीत्। एवं प्रतीयते स्म यथा रतिलावण्यदर्पं दलयितुं विद्याधरी तिलोत्तमा धृतमानवीविग्रहा स्वयमेव भुवमवतीर्णा। आङ्ग्ली रमणीव परमगौरी, सुदती, कम्बुकण्ठी, कज्जलाक्षी चासीत् सा। पितृष्वसुर्यौवनावधौ सौन्दर्यप्रतिमानं किञ्चिदन्यदेवासीत्। संस्कारसम्पन्नमध्यवर्गीयगृहोत्पन्नाः सुवासिन्यो विविधानि प्रसाधनानि उपयुञ्जन्तिस्म। आभूषणान्यपि विचित्राण्येवासन् तदानीन्तनानि। कण्ठे ग्रैवेयकं काञ्चनी शृङ्खलेति सम्प्रत्यप्युपयुज्येते। परन्तु तस्मिन् युगे अर्धचन्द्राकारस्य हँसलीतिख्यातस्य, सुवर्णदीनारसंग्रथितस्य हुमेलेतिवाच्यस्य चाभूषणविशेषस्य विशेष प्रयोग आसीत्। चन्द्रहाराख्यमाभूषणं सीमन्ते धार्यते स्म। मणिबन्धे वलयं कङ्कणं (तोड़ा) तोटकं सिंहमुखञ्चाभूषणं धार्यन्तेस्म।

परन्तु यत्प्रसाधनमिदानीमवसितं जातं तस्य दन्तपङ्क्तिरञ्जनस्याद्भुता प्रथाऽऽसीत्तदा। युवत्यः प्रायेण स्वाभिरुच्यनुसारेण मीसीतिपदवाच्येन शोणितवर्णेन रक्तवर्णेन वा केनचिद्वज्रलेपेन दन्तान् रञ्जयन्ति स्म। मम पितृष्वसाऽपि कृष्णमीसीरञ्जितदन्तपङ्क्तिरासीत्। अस्मिन् विषये युवत्याः युवतीसखीनां वा रुचिरेवासीत्प्रमाणं न पुनः पत्युरभिरुचिः, पित्रोर्वा। यद्यपि कृष्णलेपरञ्जितदशना पितृष्वसा प्रहसन्ती न मह्यमतितरामरोचत। क्व

तावत् पार्वणचन्द्रिकाधवलं पितृष्वसू रूपं क्व पुनः कृष्णवर्णा दशनपङ्क्तिः? परन्तु हा विधे! पितृष्वसुरेषा सर्वापि रूपलावण्यसम्पत् व्यर्था जाता। भोक्तर्यविद्यमाने सति किन्नु मूल्यं भोगानाम्?

विवाहानन्तरं द्विरागमनव्याजेन पितृष्वसा श्वसुरालयं गतवती। उत्तरभारतीयराज्येषु प्रायेण प्रथमवारं श्वसुरालयं गतवत्योऽङ्गना नातिचिरं तिष्ठन्ति। जीवनसूत्रधारं पतिं प्रत्यभिज्ञाय, तमात्मसात्कृत्य प्रणयादानप्रदानाभ्यां, कुटुम्बिभिश्च सह परिचयं संस्थाप्य त्वरितमेव ता मातृगृहं प्रत्यावर्तन्ते। पितृष्वसाऽपि मासं यावदध्युष्य श्वसुरगृहं, मातृगृहमागता। श्वसुरगृहे नाधिका जना आसन्। पतिः, पत्युर्ज्येष्ठभ्राता, ज्येष्ठपत्नी, तत्पुत्रास्त्रयोऽविवाहितश्चैको देवर इति सप्तप्राणिन एव तस्मिन् कुटुम्बेऽभवन्। अष्टमसदस्यत्वेन कुटुम्बेऽस्मिन् पितृष्वसा मे सम्मिलिताऽभूत्।

मासावधिकोऽसौ निवास एव पितृष्वसुः प्रथममन्तिमञ्च पतिसुखमासीत्। तदनन्तरमेव तत्पतिः सेवावृत्त्यर्थं कलिकातां गतवान् भूयश्च नोपावर्तत। समाजे इयमपि किंवदन्ती प्रससार यत्पितृष्वसुः पतिदेवं कापि कामरूपमहिला तन्त्रमन्त्रपारगा शुकीकृत्य पञ्जरे बद्धवती यत्र सोऽद्यापि जीवति।

विरञ्चिरेव सत्यं जानीयात्। पितृष्वसुः पतिर्जीवति, मृतो वा, केनाप्यपहृतः, कयाचित्कामरूपिण्या शुकीकृतो वेति न वेद कोऽपि मानवः। परमार्थसत्यं पुनरेतदेवाऽसीत् यत् सकृद्विदेशङ्गतःपितृष्वसुः पतिर्न भूयोऽप्युपावर्तत। बहूनि वर्षाणि यावत् पितृष्वसा पतिप्रतीक्षारताऽतिष्ठत्। कृष्णपट्टिकामयीं शाटीं परिदधे सा। शनैः शनैः प्रकृतिस्थं जातं सर्वमेव। पितृष्वसुर्नेत्रयोरश्रूण्यपि शुष्काणीव जातानि। भ्रातृभ्रातृजायाभगिनीभ्रातृव्यपितृव्यादिसङ्कुले परिवारे निराकाङ्क्षेव, निर्भविष्येव, काष्ठकल्पेव सा जीवितुं शिक्षितवती। ममाम्बैवासीत्तस्या वेदनासहचरी। उभयोर्मध्ये गभीरसख्यमासीत्। सख्यमिदं न केवलं वाचिकमात्रम्। वस्तुतः प्रचलितलोकपरम्परामवलम्ब्यैव मिथो मिष्टान्नं भोजयित्वा, जुष्टञ्च पारस्परिकं स्वीकृत्य सपरिजनसाक्ष्यं सख्यमुभेऽङ्गीकृतवत्यौ। परस्परं सखीतिसम्बोध्य ते वार्तारतेऽभूताम्।

प्रायेण वर्षे व्यतीते सति ज्येष्ठार्यानुरोधवशात् पितृष्वसा पुनरपि श्वसुरगृहं गतवती। कतिपयदिनानि यावत्सर्वमपि समञ्जसमासीत्। परन्तु कस्याञ्चिद्रात्रौ कक्षद्वारमनर्गलितमवाप्य देवरस्समागतः। तमकस्मादकारणमनवसरं कक्षप्रविष्टं दृष्ट्वैव पितृष्वसाऽनर्थमाशङ्कमाना सदृढस्वरमपृच्छत्–भोः किमप्यस्ति प्रयोजनम्? ......निश्शब्दोऽतिष्ठत् देवरः।

–पृष्टं मया, किमप्यस्ति प्रयोजनम्? किमर्थमियत्यां रात्रावुपागतोऽसि? केनापि प्रेषितो वा किञ्चिद्वक्तुमागतोऽसि। दृढतरस्वरैरपृच्छत् पितृष्वसा।

–वक्तुमेवागतोऽस्मि यत् कियत्कालं यावदेकाकिनी .....इत्यर्धमुक्त्वैव धृष्टो देवरः पितृष्वसुर्मणिबन्धं ग्रहीतुमियेष।

–तडाक् तडाक् तडाक् .....। क्रुद्धसिंहीव रक्तप्रतान्तनयना पितृष्वसा तं नरपशुमसकृत् कपोले ताडयन्ती चण्डमगर्जत्–नीच! क्षुद्र! पूतिकुल्याकीट! मां सनाथीकर्तुमागतोऽसि? मामेकाकिनीमात्मद्वितीयां विधातुमागतोऽसि? जानासि, कस्य देवगृहस्य नीराजनदीपिकाहमस्मि? पत्युः स्थाने त्वामहं स्वीकरिष्यामि? अपेहि, पलायस्व। अन्यथा शरीरचर्मापि ते वृक्षत्वचमिव पृथक्करिष्यामि।

अन्येद्युरेव प्रातःकाले भ्रातृव्येन सह पितृष्वसा भूयोऽपि मातृगृहमुपावर्तत। ममाम्बामाध्यमेन दुर्व्यवहारवृत्तमिदं सर्वैरपि कुटुम्बिभिश्श्रुतम्। श्वसुरालयेऽपि पितृष्वसुः सर्वे देवरकुकृत्यं ज्ञातवन्तः। लज्जाभयग्रस्तास्ते भूयोऽपि कदापि मम गृहं नागतवन्तः। अवशिष्टं सम्बन्धसूत्रमप्येवमुच्छिन्नम्।

।।४।।

पितृष्वसा न कदापि श्वसुरालयं गमिष्यतीति दृढ़निश्चयो जातः कुटुम्बे। तदेवाऽभूत्। तावता कालेनैव ज्येष्ठसहोदरस्य नियुक्तिर्मध्यप्रदेशे सञ्जाता सेचनविभागे। एकाकिनीं भ्रातृजायां सम्भालयितुं पितृष्वसाऽपि सहैव गतवती। प्रायेण पञ्चदशवर्षाणि यावत्सा ज्येष्ठभ्रातृजायया सार्धमेव न्यवसत्। एतेषु वर्षेषु सर्वमपि गार्हस्थ्यसौख्यं पितृव्यस्य पितृष्वस्त्रधीनमेव सञ्जातम्। भ्रातृसन्ततीनां पालनं पोषणं सुश्रूषणं संरक्षणं–सर्वमपि कार्यं सैव निर्व्यूढवती। अतिथीनां प्रत्युद्गमनं महानसकार्यजातमपि सैव सम्पादितवती। भ्रातृशिशूनां मूत्रपुरीषाद्युत्थापनं तत्स्नानं प्रसाधनमलङ्करणञ्चापि सैव कृतवती। परमार्थतस्सैवाऽभूज्जननी शिशूनाम्। रुग्णेऽस्वस्थे सति शिशौ पितृष्वसा क्षणमात्रमपि शयितुं न शशाक।

ज्येष्ठसोदरसन्तानेषु प्रवयस्केषु सत्सु पितृष्वसाऽनुरोधमङ्गीकृत्य कनिष्ठसोदरभवनमागता। तस्यापि सन्ततीः सैवैकैकशः पालितवती, पोषितवती। मध्ये–मध्ये सा ग्रामस्थं भवनमप्यागत्य कञ्चित्कालं यावदतिष्ठत्। एवं कुर्वाणैव पितृष्वसा युवतीतः प्रौढा, प्रौढातश्च स्थविरा जाता। पत्युः भ्रातृव्यास्तस्याश्चिरकालानन्तरं भूयोऽपि सम्बन्धसूत्रं योजयितुं प्रयत्नं कृतवन्तः। तेषां क्षमाप्रार्थनां स्वीकृत्य, विनयादिगुणान् प्रसमीक्ष्य पितृष्वसा प्रह्वीभूता। परन्तु युगपदेव स्वनिर्णयमपि घोषितवती–वत्स! देवरे दुर्वृत्ते दिवङ्गते सत्येव तव गृहमागमिष्यामि। अथ च, यद्यहमेव प्राग्गच्छामि तर्ह्यत्रैव मम मातृगृहमागत्य मह्यं तिलोदकं प्रयच्छ, प्रीत्या ग्रहीष्यामि।

अहो नु विधेर्विधानम्! कृतकिल्विषो देवर एव प्राग् दिवङ्गतः। स्वशपथं चरितार्थयन्ती पितृष्वसा मे सम्प्रति पतिकुटुम्बेन सार्धं श्वसुरालय एव निवसति। वार्धक्यजर्जराऽसौ सम्प्रति। रोगैराक्रान्ता, मेरुदण्डेनावनता। यष्टिमवलम्ब्य स्तोकमात्रं गतागतं करोति। सहोदराणां ये पुत्राः याः पुत्र्यो वा सम्पालिताः किङ्करीभूतया पितृष्वस्रा न ते तां जननीनिर्विशेषां कल्पद्रुमवल्लरीं परिचिन्वन्ति। जीवन्त्यप्यशीतिवर्षदेशीयाऽसौ तैर्मृतैव

मन्यते। परन्तु किं कुर्याद् वराकी मे पितृष्वसा? आमरणं शरीरन्तु धार्यमेव, स्वस्थं स्याद् रोगजर्जरं वा। पुष्टं वा स्याद् गलितं वा!

व्यतीतशतकस्योत्तरार्धेऽस्मत्कुटुम्बेऽन्याश्चापि काश्चन कन्यका दौर्भाग्यवशाद् विधवाः सञ्जाताः। परन्तु ताः सर्वा अपि भूयः परिणीताः सम्प्रति सुखानन्दनिचिता वर्तन्ते। वैधव्यमिदानीं नात्यन्तिकममङ्गलं योषिताम्। समाजे विधवानां पुनर्विवाहस्य प्रचलत्येव काऽपि प्रशस्ता परम्परा।

अपि नाम पितृष्वसुर्युगेऽपि परम्परेयं प्रशस्ताऽभविष्यत्। एवं सत्यद्य पितृष्वसा मुक्ताऽपि कान्तसुखनिर्भरा पुत्रपौत्रसौख्यसमृद्धा महिलाऽभविष्यत्। परन्तु किमनेन सम्भावनेन? भाग्यपात्रे लघुनि सति सरोवरागाधजलमपि कियतीं तृषां हरिष्यति?

रचनाकालः, शिमला
०८.१२.२००९ ई०।

कन्यादानम्

यथा-यथा पुत्र्याः विवाहदिवसस्समीपमागच्छन्नासीत् कलावत्या नेत्रयोर्निद्रा क्षीयते स्म। न महानसे काचित्प्रीतिरासीत् न वा गृहकार्ये। भोजनं, पानं, प्रतिवेशगमनं, केनचित्सह संलपनं-सर्वमपि निरुद्धमिव जातम्। प्रतिक्षणं बाधते स्म केवलमेकैव चिन्ता। हन्त, या खलु नवमासान् यावन्मयोदरे परिरक्षिता, या खलु मया महताऽभिलाषेण भविष्यत्स्वप्नेन सह जनिता, यस्याः किलत्कारैरस्पष्टवाग्भिः स्मितकैरालिङ्गनैश्च मदीयं मातृत्वं धन्यधन्यं जातं, यस्या अहमस्मि जन्मदात्री-सैवाहं तस्या विवाहे समुपस्थातुं नाऽनुमता भविष्यामि? जामातुः कन्यायाश्च पादौ युगपत्समर्चितुं शक्ता न भविष्यामि? सत्यपि जननी कन्यादानं न करिष्यामि?

स्वकक्षे, पर्यङ्कोपरि निषण्णा कलावतीऽत्येवमादि चिन्तयन्ती, लोचनाभ्यां व्यथासन्तप्तवारां प्रवाहान्निपातयन्ती स्वातीते निमग्नासीत्। सत्कुलोत्पन्नाऽसावपि पित्रोः परमदुर्ललिताऽऽसीत्। महता यत्नेन पालिता, पोषिता किञ्चिच्छिक्षिता चापि, सन्ततीनां मध्ये ज्येष्ठत्वात् सैव प्रथमं परिणीताऽपि जाता। पतिरासीदल्पशिक्षित एव। परन्तु रूपदृष्ट्या सुदर्शनश्शरीरदृष्ट्या च बलिष्ठः। स आसीद् राजस्वविभागे लिपिकः। तस्य त्रयोऽनुजा आसन्। ज्येष्ठकनिष्ठौ गृहकार्यसंलग्नौ, मध्यमस्तावदध्यापकः।

कलावती वधूर्भूत्वा श्वसुरालयमागतवती। सर्वेऽपि स्वप्नास्तद्दृष्टाः क्रमेण पूर्तिमुपययुः। गृहे न श्वश्रूर्न श्वसुरः। ज्येष्ठसहोदरार्धाङ्गिनीत्वात् सम्प्रति सैव गृहस्वामिन्यासीत्। देवराणामन्यतमः किशोर एवेदानीं यावत्परिणीत आसीत्। अतएव पत्युर्गृहे कलावत्या एवाखण्डसाम्राज्यमासीत्। सुवर्णमुदगिरद् भूमिः। यवगोधूमतण्डुलचणककलायाढकीम-सूराद्यन्नानां राशिः भवने संरक्षित आसीत्। ततश्च दोग्ध्री धेनुरेका, महिष्यस्तिस्रोऽप्यासन्। तेन दुग्धदधितक्रघृतादीनां किमपि नैयून्यं नासीत्। किमधिकमपेक्षितं स्यात्? पार्थिवसौख्य-लक्षणानुकूलं सर्वमपि प्राज्यतमं प्रदत्तमासीद् विधिना।

परन्तु न सर्वाणि दिनानि तुल्यानि यान्तीति यदुच्यते तत्सत्यमेव। अकारणविद्वेषिणो दुर्विधेर्दृष्टिः केन्द्रिता जाता कलावतीभागधेये। सप्तवर्षाणि यावदेव सधवा सती साऽकस्मादेव समुत्सन्नसौभाग्या जाता। अनेकगर्भस्रावानन्तरं कन्यैवैका पतिप्रणयसम्पत् तदुत्सङ्ग आसीत्। हन्त, हर्म्यनिर्माणसमकालमेव गृहध्वंसी भैरवभूकम्पस्समागतः। तार्णकुटीरे कलावत्या सर्वदाही वह्निस्सन्दीप्तः। रोगस्तूपचरणीयः। दोषो मार्जनीयः। अपराधो मर्षणीयः। रोषोऽपि कस्यचित् सक्षमायाचनं शमनीयः। परन्तु दिवङ्गतः प्रियजनो न कथमप्युपावर्तनीयः।

कलावती सुष्ठु ज्ञातवती स्वभविष्यम्। इदं सूच्यभेद्यं सघनं तमस्काण्डं यावज्जीवनं नापनेष्यते। ब्राह्मणानां कुलमिदम्। पुनर्विवाहस्य स्वप्नोऽपि महत्पापम्। सम्प्रति तु वैधव्यमेव

शरणम। वैधव्यमेव प्रत्यभिज्ञानम्। तदेव जीवनम्। तदेव गृहे, समाजे, ज्ञातिजने च बहुमानहेतुः। अमुकस्य विधवाऽहमितिमात्रं ममास्तित्वम्।

एवं चिन्तयन्त्या एव तस्याः प्रायेण पञ्चवर्षाणि व्यतीतानि। स्वभवने दुर्गसन्निभे देवराणामाश्रये कलावती सर्वथा सुरक्षिताऽऽसीत्। परन्तु ग्रामपरिवेशोऽसुरक्षित आसीत्। कथेयं तद्युगीना, यदा भारतीयसमाजे कन्यकानां महन्नैयून्यमासीत्। अतएव महता क्लेशेनैव कस्यचिद्युवकस्य विवाहस्सम्भवतिस्म। प्रायेण सप्तसोदराणां मध्ये त्रिचत्वारोऽपरिणीता एव तिष्ठन्तिस्म। अतएव गृहे-गृहे व्यभिचारो व्याप्त आसीत्। देवरा भ्रातृजायासु, श्वसुराः स्नुषासु, ज्येष्ठाश्चापि केचनाऽनुजभार्यासु बद्धाभिलाषा दृश्यन्ते स्म। चौर्यरतिकथया ग्रामवातावरणं सर्वथा दूषितमासीत्। आभीरनिषादकुम्भकारनापित-हरिजनादिवसतिषु तावदुच्छृङ्खलानां खण्डितवृत्तानां भुजदण्डगर्वितानां भूस्वामिनां ठक्कुराणां नित्यवास एव समजायत। न काऽपि कन्यापिता तान् विरोद्धुं क्षमतेस्म। अतएव गृहसदस्यभूतां कामप्येकां रमणीं, स्नुषां वा पुत्रीं वा, स्वभार्यां वाऽनुजभार्यां वा सर्वसम्मत्या तस्मै रावणाय समर्प्याऽत्मकुटुम्बं सुरक्षितं मन्यते स्म।

एतादृशे पापाचारसङ्कुलेऽग्रहारे कलावत्यक्षता स्थातुं कथं शक्नुयात्? दामोदरनाम्नो विधुरप्रातिवेशिकस्य कस्यचिद् भोगदृष्टिस्तदुपरि केन्द्रिताऽऽसीत्। सोऽपि समृद्ध गृहपतिरासीत्। परन्तु सामान्यकुलप्रसूतत्वात् न कोऽपि उच्चकुलाभिमानी ब्राह्मणस्तस्मै स्वीयां सर्वगुणोपपन्नां निर्दोषकन्यां प्रायच्छत्। अतएव क्षेत्रप्रचलितां कन्दर्पकण्डूतिशमन-परम्परामनुसृत्य सोऽपि स्वगृहसेविकया सह सम्बन्धं निर्मितवान्। परन्तु कुम्भील-दृष्ट्याऽवलोकितं कलावत्या उन्मदयौवनं तस्य भोगलिप्सामनारतं जागरयतिस्म। कदाचिदसौ सेविकां मुद्राभिः परितोषयन्नेकान्ते सप्रणयमपृच्छत्-हिरने! यथा वयं पुरुषाः सन्दीप्त-भोगाग्नयः किं यूयमपि तथैव?

-किमस्माकं शरीरं तृणपत्रनिर्मितम्? किमस्माकं शरीरे हृदयाद्यङ्गानि न सन्ति? अस्माकमग्नयस्तु पुरुषेभ्यः सहस्रगुणाधिकाः सन्ति। हिरनाऽवदत्।

-तादृशमग्निं कथं शीतलयति कलावती? दामोदरोऽकस्मादवदत्।

-हंहो, इदानीमवगतम्मया भवत्सन्दीप्ताग्निरहस्यम्। मन्ये मत्तः समुद्विग्नं मन इदानीम्। सम्प्रति कलावती भवन्मस्तिष्कमारूढा। परन्तु पण्डितमहाराज! कलावत्या देवराः कर्कटिकामिव ग्रीवां ते निकृत्त्य गर्ते क्षेप्स्यन्ति।

-हिरने! किमिदं बुक्कसि? किम्मया मणिबन्धे वलयानि धृतानि? परन्तु नासौ ममाभिप्रायो यादृशं त्वमुत्प्रेक्षसे। मया तु कलावत्या वैधव्यं तद्दुर्वहयौवनं चैव सञ्चिन्त्य करुणावशादिदं पृष्टमासीत्। दामोदरः पर्यवर्तयत् वार्तादिशाम्।

-भवतु ज्ञातम्। किन्त्वग्निस्तु कलावत्यामपि वर्तत एव। संस्कारसम्पन्नोऽसौ परिवारः। पितृपितामहप्रतिष्ठारक्षका वर्तन्ते गृहसदस्याः। अन्यथाऽन्यस्मिन् गृहे यदि

साऽभविष्यत् तर्हि तद्देवरा एव तां विभज्येदानीं यावदभक्षयिष्यन्। कस्मिंश्चिद् दिने तां द्रक्ष्यामि।

–हिरने! कस्मिंश्चिद् दिने? कथं नाद्य सायन्तनकाल एव। इत्युदीरयता दामोदरेण, भृशं प्रचुम्ब्य गृहसेविका, भूयोपि शतरूप्यकमुद्रया सभाजिता।

दामोदरस्य युक्तिः फलवती जाता। हिरना कलावतीगृहे गमनाऽगमनं प्रारब्धवती। आदौ ग्रामवार्ताः, ततः प्रतिगृहघटनावर्णनाः, ततश्चरित्रसमीक्षणं परिचितानां, अन्ते च कलावतीवैधव्यमाख्याय तया सहाश्रुपातः, ततश्चापि सर्वावस्थायां प्रतिबिम्बवत्साहाय्यप्रतिश्रुतिः। पुरुषहृदयं कन्दुकीकृत्य स्मरक्रीडां सम्पादयितुं दक्षाऽसौ कुट्टनी शनैः शनैः तद्धृदयचुल्लिकायां प्रसुप्तमग्निकणं सन्धुक्षितुं सफला जाता। यदा वशीकरणं तस्याः सिद्धं तदाऽसौ कस्मिंश्चित् क्षणे स्मरानुष्ठानस्य सङ्कल्पमन्त्रमपठत्–

वधुके! पर्वतसन्निभं जीवनं कथमेकाकिनी यापयिष्यसि? इति

–हिरने! येनैकाकिनी कृताऽस्मि स एवोपायं चिन्तयिष्यति। किमहं चिन्तयिष्यामि। किञ्च, मच्चिन्तनेन को लाभः? कलावती सवैवश्यमवादीत्।

–वधुके! सत्यमाह भवती। परन्तु महिला खल्वहम्। न तव किञ्चिदपि मत्तस्तिरोहितम्। यथाऽहं तथैव त्वमपि गृहीतसम्भोगास्वादाऽसि। परन्तु तत्सुखं नित्यमेव मदधीनम्। त्वं तावत्तेन सुखेन च्युतासि जाता। तत्सुखाऽभावे कथं नु जीवसीत्येव चिन्तयाम्यहम्। कथं नाऽनूढयोर्देवरयोरेकतरेण सह परिणयं सम्पादयति भवती? हिरना सनाट्यमवदत्।

–हिरने! प्रमत्ताऽसि जाता? अस्माकं कुलपरम्परां जानासि न वा? अत्र तु देवरो भ्रातृजायां मातृकल्पां मन्यते। सर्वेऽपि मम देवरास्तादृशा एव।

–भवतु, तर्हि कमप्यन्यमुपायं चिन्तयामि, येनाऽकीर्तिरपि न स्यात्। तव बुभुक्षाऽपि शाम्येत्। हिरना सकैतवं स्मितकं विधाय प्राह।

–दुष्टासि त्वम्। का नु त्वामेतत्सर्वं सम्पादयितुमर्थयते? हिरने! यथाऽहमस्मि तथैव वर्तिष्ये। सम्प्रति, कन्यकायाः पालनं पोषणं तद्विवाहश्चेत्येव मम जीवनलक्ष्यम्।

कलावत्यास्तदुत्तरमेवासीत् अर्धस्वीकरणं हिरनाप्रस्तावस्य। यदि नाम हिरनाप्रस्तावितोऽन्योपायः सर्वथाऽनभिमतोऽभविष्यत् तर्हि कलावती समुद्गिरत्कालकूटा नागाङ्गनेव सफूत्कारं तां दृष्टुं सन्नद्धाऽभविष्यत्। परन्तु न तया तथाऽऽचरितम्। प्रत्युत शिथिलप्रतिवचनैः भोगास्वादं प्रति स्वोत्कण्ठामेव सङ्केतितवती।

कतिपयैरेवाहोभिः भोगाकाङ्क्षामिमामुभयसाधारणीं विधाय, हिरना कस्मिंश्चित् प्रदोषे, कलावतीं दामोदरेण मेलितवती इक्षुक्षेत्रे। यावत्कलावती दामोदरविषये किञ्चित्पृच्छेत् हिरनां, तत्पूर्वमेव सुदर्शनो बलिष्ठाङ्गो दामोदरस्तां प्रागाढालिङ्गने बबन्ध। चिरात् ऊषरत्वमुपगता कलावतीतनुः सम्भोगाम्भोदमहावृष्टिनिमग्ना सती प्रशान्ततापा सञ्जाता।

पुलकितं शरीरम्। समजनि रोमहर्षः। प्रत्यावृत्तमिव म्लानप्रायं यौवनम्। समृद्धमिव भूयोऽपि पर्यलक्ष्यत जगत्। समुद्गताः कामनाङ्कुरप्ररोहाः।

प्रशान्ते सति पञ्चसायकाध्वरे हिरना दामोदरपरिचयं दत्तवती, कलावतीञ्च तद्गृहं यावदानीतवती। किञ्चित्कालानन्तरं हिरनाऽनपेक्षिता जाता। उभौ प्रणयिनौ सकृन्मिलित्वा पुनर्मेलनस्य समयं स्थानं तिथिञ्च स्वयमेव निरचिनुताम्। रूपवतीं सजातीयां सौन्दर्यनिधानभूतां कामिनीमवाप्य दामोदरः सेविकामिदानीं किमर्थं हि पृच्छेत्? यादृच्छिकं प्रदीयमानं धनराशिमप्यसौ दातुं न्यषेधीत्। एवं हि कामार्थावुभावपि पुरुषार्थौ सेविकायाः खण्डितौ। धर्मपुरुषार्थस्तु प्रागेव संशयापन्न आसीत् तस्याः।

सम्प्रति सर्वविधं साफल्यमासीत् दामोदरहस्ते। स सुष्ठु जानातिस्म यदि असहिष्णुर्हिरना कर्णोपजापं कृतवती, चौररतिरहस्यं वा कलावतीदेवराणां समक्षं समुदभेदयत् तर्हि निश्चप्रचं ते वंशप्रतिष्ठां संरक्षितुं तां परित्यक्ष्यन्ति। एवं कृते सति स एव भविष्यति कलावत्याः स्थायि शरणम्। अतः परं तद्धितं किं भविष्यति? अनूढाऽपि रत्नभूता रमणी, अर्धाङ्गिनीभूय भवनमेष्यति। कादाचित्कं रतिसुखमपि भविष्यत्येव सार्वकालिकम्। अथ चेत् हिरना मुखं पिधाय तिष्ठति तर्हि यदा-कदापि तन्मुखमपि पूरयिष्याम्युत्कोचादिना।

परन्तु हिरनायाः क्षोभस्सम्प्रत्यसह्य एवाऽऽसीत्। वस्तुतः कलावतीं दामोदरेण सह सङ्गमयन्त्या तया न मनाक् चिन्तितं स्वभविष्यम्। क्षुत्क्षामकण्ठो जनः कामं कपित्थमपि भक्षयित्वोदरं पूरयेत् परन्तु समृद्धरसवतीकश्छविल्लः कथं नु तुष्येत् कदन्नेन? सैव कदन्नभूता हिरना सम्प्रति दामोदरेण पक्वान्नरसिकेन परित्यज्य दूरं प्रक्षिप्ताऽसीत्। धनाद्यनवाप्तिस्तां न तथा पीडयतिस्म यथा दामोदरेणापहृतं रतिसुखम्। इयमसन्तोषविषलता तद्गात्रमावेष्टमाना शीर्षमप्यतिक्रान्तवती। सम्प्रत्यस्या भूयोऽप्यधरीभवनं सुनिश्चितमासीत्।

प्रवेशकं परित्यज्याग्रेसरामः। हिरनाभिमन्त्रितैर्देवरैस्त्रिभिः कलावती कस्याञ्चिद्रात्रौ दामोदरेण सह दुष्कर्मणि निगृहीता। पशुमारं मारितो दामोदरोऽधिक्षेत्रमेव। मृत इति धिया तत्रैव परित्यक्तः। कलावत्यपि तैः सथूत्कारं निर्भर्त्सिता-

रण्डे! वंशप्रतिष्ठां धूलिसात्कृतवती? देवनदी गङ्गाऽस्माभिरवगता। परन्तु कर्मनाशाऽसि जाता? उभयमपि कुलं कलङ्कितवती? वत्सतरीमिव स्वतनयामपि देवालयनीराजनाकल्पां विस्मृतवती? कियताऽऽदरेण, कियत्या श्रद्धया, कियता विश्वासेन वयं तव संरक्षणे निरता आस्म! परन्तु त्वं......त्वं कामातुरा कुक्कुरी सञ्जाता? हे परमेश्वर! कथमिदानीं समाजे मुखानि दर्शयिष्यामः? कथमिमं कलङ्कं क्षालयिष्यामः? धिक् त्वाम्।

कनिष्ठो देवर आत्मरोषं नियन्त्रयितुमशक्नुवानः कलावतीमपि हस्तलगुडेन प्रहर्तुमियेष। परन्तु तथा कर्तुमना असौ ज्येष्ठेन निरुद्धः। ज्येष्ठसहोदरः पुनरपि चण्डस्वरेणाकथयत्-

मुञ्चेमाम्। स्वपापकर्मणैव हतेयं हतभाग्या। सम्प्रत्याजीवनं धरित्र्यामेव रौरवनरकपीडां भोक्ष्यति। पश्य, यामो वयम्। सद्ययं नीचो दिवङ्गतस्तर्हि स्वेच्छया क्वचिदप्यन्यत्र गच्छ। यदि पुनरयं जीवति तर्हि तेनैव सह वस। परन्तु कस्याञ्चिदपि स्थितावस्मद्गृहं नागन्तव्यम्। विस्मरेदानीं यत्तवास्ति कापि कन्यापि। वयं पालयिष्यामस्ताम्। साऽस्त्यस्मदग्रजप्रत्यभिज्ञानभूता पवित्रस्मृतिः।

यदि नाम त्वया कृतं किञ्चिन्नाटकं तर्हि निश्चप्रचं त्वां हनिष्यामो वयम्।

भूकम्पाहताऽट्टालिकेव कलावती यावन्निर्भर्त्सनं कम्पमानाऽतिष्ठत्। प्रतीपदिङ्मुखीना सा एकैकमक्षरं शृण्वती निःस्तब्धा निष्क्रिया निरुत्तरा च तस्थौ। किं कुर्यादसौ? सहसाऽपतिते झञ्झानिले यथा सर्वं जायते विपर्यस्तं, न किञ्चिदपि सम्भालयितुं शक्यते, सर्वथा तथैवासावधाना कलावती नात्मानं वारयितुं समर्थाऽभूत्। कथं तस्याश्चौर्यरतिरन्विष्टा देवरैः? कथन्तेऽकस्मादेवोपगताः? किमस्मिन् दुर्घटिते हिरनायाः हस्तः? अन्यस्य वा कस्यचिद्धस्तः? केनाऽप्यन्येन वाऽसौ परिलक्षिता? स्वदेवरपत्न्यैव वाऽशङ्किताऽसाविति नैके प्रश्नाः कूटसमाधानकल्पास्तन्मनसि विद्युदुन्मेषगत्या समुदिताः। परन्त्विदानीं नायमासीदवसरः प्रतिवचनस्य। मुखकोटराऽनुद्घाटनमेव श्रेयस्करमासीत्।

कलावतीदेवरा रात्रावेव गृहमुपावर्तन्त। कलावत्यपि चिरं यावच्छ्वासागमनं प्रतीक्षमाणा दामोदरसमीपमेवोपाविशत्। प्रायेण होरानन्तरं स चेतनामवाप। कलावतीं पार्श्वे स्थितां दृष्ट्वा महता कृच्छ्रेणाऽभणत्–रण्डया हिरनयैव सर्वमिदं कृतम्। कथञ्चिन्मां गृहं नय। आः नृशंसैर्व्यापादितोऽस्मि। महती व्यथा जायते।

तत एव कलावती दामोदरगृहिणी जाता। परेद्युरेव घटनेयं कर्णात्कर्णं प्रसरन्ती तुषाग्निरिव समस्ताग्रहारे संव्याप्ता जाता। देवराणां द्वारे महान् जनसम्मर्दः पुञ्जीभूतः।

–भ्रातः! अनुजानीहि माम्। इदानीमेव भुशुण्डीगोलिकया श्वानं दामोदरं भर्जिष्ये। केनचित्प्रतिवेशिनोक्तम्।

–हे परमेश्वर! समग्रग्राम एव कलङ्कास्पदीकृतो नीचेन। वृद्धोऽवदत् कोपि।

–आपातरम्यमासीद् व्यक्तित्वम्। कियता शौचेन, कियताऽर्जवेन जीवनं यापयतिस्म? किन्तु रण्डेयं कुलं कलङ्कितवती? ग्रामवृद्धा काचिदवोचत्।

–नारिसुभाउ सत्य कवि कहहीं। औगुन आठ सदा उर रहहीं! बन्धो! गोस्वामिना तुलसीदासेन यन्निगदितं तत्सत्यमेव! कश्चिद् विदूषकोऽदिशत्।

ज्येष्ठदेवरः किशोरस्समुद्विग्नो जातः। स सम्यग्जानातिस्म समेषां मनांसि। के परमार्थतो व्यथिताः? के वा व्यथां करुणां सहानुभूतिं वाऽभिनयन्ति? के खलु सदुपदेशव्याजेन प्रकाशितहर्षाः? के तटस्थाः। सर्वमिदं किशोरो यथायथं ज्ञातवान्। अतएव सम्मर्दमिमं दूरीकर्तुं सर्वान् प्रणम्य दृढतयाऽवदत्–

बन्धवः ! सुहृद्वर्याः ! पितृव्याः ! पितामहाः अज्जुकाः ! शृण्वन्तु सर्वे भवन्तः सावधानम्। यादृशमासीन्मदीयं कुलं तद्भवन्तो जानन्ति। यादृशा वयं त्रयो भ्रातरस्तदपि जानन्ति भवन्तः। केवलं मम भ्रातृजायां वेत्तुं न वयं समर्था अभूम, न च भवन्तः। अस्माकं दृष्टौ तु सा साक्षात् देवी पृथाऽऽसीत्। न कदापि तच्चरितमस्माभिः शङ्कितम्। इदं पतनं तस्याः कदा, कथं, कस्माद्वा जातमिति वयं न जानीमः। ज्ञानस्य काप्यपेक्षापि नास्ति।

एतावदेवाऽहं जानामि यद् विषमिश्रितं जलं न पातुमुचितम्। पूजागृहे विष्ठा न स्थाप्यते। पूतिमदङ्गं शरीरस्य समुच्छेत्तुमेव श्रेयस्करम्। तत एव साऽस्माभिः परित्यक्ता। परमार्थतः परित्यक्ता, गृहान्निष्कासिता। नेदानीं सा पापाऽस्मद्भ्रातृजाया, न वा गृहसदस्यभूता। सम्प्रत्यसौ दामोदरेण सह मुखं कज्जलयतु, तदन्येन वा सह। किन्तेनाऽस्माकम्? तथापि पूर्वसम्बन्धवशात् योऽपवादो जातस्समाजे स तु सोढव्य एव। सहिष्यामहे। न वयं मिष्टफुफ्फुसकल्पा यत्कतिपयजलबिन्दुभिरेव गलिष्यामः। पुरुषाः वयं सर्वंसहाः।

सम्प्रति स्वं-स्वं गृहं गच्छन्तु भवन्तः।

किशोरव्याख्यानानन्तरं तत्रोपवेशनस्यावकाश एव नासीत्। सर्वेऽपि प्रातिवेशिकाः शनैः शनैः प्रस्थिताः। निर्मक्षिकं जातं भवनद्वारम्।

क्षोभसन्त्रासचित्तोद्वेगपश्चात्तापावमानकराः सञ्जाताः कतिपयदिवसाः। औषधालयं गत्वैव दामोदरः स्वस्थोऽभवत्। परन्तु कलावत्या भृशं निरुद्धोऽसौ रक्षिस्थानके कमपि वादं न स्थापितवान्।

दशवर्षेभ्यः प्राग् घटनेयं घटिता। मध्ये उल्लेखनीयं वृत्तद्वयमात्रं जातम्। प्रथमं तावदिदं यत्स्वपुत्रीं स्वायत्तीकर्तुं कलावती जनपदन्यायालये वादमेकं स्थापितवती। परन्तु पुत्री स्वयमेव मातृसंरक्षणे गन्तुं नैच्छत्। सा पितृव्यपत्न्या पितृव्यैश्चैव साकं वस्तुमिच्छां प्रकटितवती। तच्छ्रुत्वा विद्वान् न्यायाधीशः समीक्षायाः प्रथमपर्याय एव वादं कन्यापक्षे निर्णीतवान्। अपरश्चापि वृत्तमासीत् तादृशमेव। पत्युः कृषिभूमिमधिकर्तुं कलावती कञ्चिद्वादं न्यायालये स्थापितवती। तत्रापि सा पराजिता जाता।

अनेकशस्सा विद्यालयाद्गृहमुपावर्तमानां पुत्रीं मध्येमार्गमवरोध्य लालयितुं लपितुमात्मगृहे वा नेतुं प्रयासं कृतवती। परन्तु तदुश्चरितं भृशं द्विषती दारिका तां स्पष्टमश्रावयत्–शृणु भोः ! मम पितुरस्तित्वं कलङ्कयन्ती त्वं न कथमपि मम जननी ! वेश्यासि वेश्या ! तव स्पर्शमपि न सहिष्येऽहम्। यदि मां प्रति त्वयि किञ्चिदपि वात्सल्यमभविष्यत् तर्हि एतादृशं पापकर्म त्वं नाचरिष्यः। सम्प्रति स्वच्छायया मां न दूषय।

पुत्र्या सन्तर्जिताऽसौ भूयोऽपि तां प्रह्वीकर्तुं नायतत।

हन्त सैवात्मजाता सम्प्रति चतुर्दशवर्षदेशीया सञ्जाता। ग्रामेषु इयमेवावस्था विवाहस्यासीत्। पञ्चवर्षानन्तरं द्विरागमनं भविता। तावता कालेन पतिंवराऽसौ प्रायेण विंशतिवर्षदेशीया भविष्यति। कलावती जानातिस्म यत्कथमप्यहं विवाहेऽस्मिन् वर्तितुं नाऽनुमंस्ये किशोरादिभिः। न्यायालयोऽपि साहाय्यं न विधास्यति। किञ्च, तद्वारिकैव विरोधं करिष्यति। तत्कथं नु सा कन्यादानं कुर्यात्? कन्यादानं नाम पित्रोः कृते स्वर्गातिशायिपुण्यफलप्रदं कर्म। साऽचिन्तयत्-कुमातैवाऽहम्। परन्त मदृऋते नाऽन्या कापि महिला मम दारिकाया माता? पितर्युपरते सति उभयोरपि कन्यादानाधिकारो मय्येव निविष्टः। एवं सत्यपि नाहं समर्था स्वकन्यां दातुम्? हा मातः किं करवाणि? कं नु शरणं गच्छानि? मम पापफलं कथं नु मन्निर्दोषा कन्या भुञ्जीयात्? एवमादि चिन्तयन्त्येव कलावती व्यथाक्रान्तलोचनाभ्यां लोतकासारमवर्षत्।

तावदेवागच्छत् हिरना। तां रुदतीं दृष्ट्वैव साऽकथितमपि सर्वं ज्ञातवती। अद्यास्ति कलावतीकन्योद्वाहदिवस इत्यप्यसौ जानातिस्म। अतएव मातृभूतायाः कलावत्या हृदयदैन्यं वैवश्यं कारुण्यमसहायत्वञ्च सम्पक्तयाऽसौ वेद।

यद्यपि चौर्यरतिवृत्तोद्घाटनवशाद् दामोदरो हिरनां प्रत्यतितरामसहिष्णुरभवत्। परन्तु पश्चात् कलावत्या सान्त्वितोऽसौ प्रह्वीभूतः। कलावत्यैव मन्त्रितम्-पश्य, हिरनोपकृत-वत्यावाम्। आवयोः सम्बन्धोद्घाटनमेव सञ्जातं स्थायिसम्बन्धनिमित्तम्। तदेवमपकुर्वण-याऽपि हिरनयोपकार एव सम्पादितः। अतएव न तस्यै कोपो विधेयः। पूर्ववदेव तस्यां स्नेहो दर्शनीयः। कलावतीमन्त्रणां स्वीकृत्य दामोदरो न रोषं कृतवान्।

हिरनाऽद्याप्यकण्टकं कलावतीगृहे गताऽगतं कुरुते। कदाचिद्भक्ष्यान्नं कदाचिच्छाकं, कदाचिदाम्रादिफलं प्राप्नोति। याचितमर्थमपि कदाचित्कलावती तस्यै ददाति।

–वधुके! पुत्रीविवाहदिनं स्मृत्वा दुःखिताऽसि? हिरना प्राह।

कस्याश्चिन्नद्यास्तटबन्ध इव भग्नः। कलावती सहिक्कमस्फुटस्वरेण करुणकरुणं विलपितुं प्रारभत-हा मम दारिके! हा वत्से! हा स्वपितुर्नयनपुत्तलिके! पार्श्वस्था सत्यपि नभोदविष्ठाऽसि सञ्जाता? हा विधे! हतभाग्याऽहं स्वकीयामेव पुत्रीं मन्त्रविधिपूर्वकं सपादार्चनं सदक्षिणं वराय जामात्रे प्रदातुं न क्षमाऽस्मि? हा मातः! किमहं करवाणि? केन व्याजेन मम कन्यादानकर्म सम्पाद्येत?

कलावतीव्यथामनुभवन्ती हिरनाऽपि मनोऽवसादविधुरा सञ्जाता। सा कलावतीं सान्त्वयन्ती सदयमपृच्छत्-वधुके! किमहं त्वत्स्थाने त्वत्कर्तृकं कन्यादानं निर्वोढुं न समर्था?

कलावत्या दृशोर्दीप्तिरिव समागता। साऽवोचत्-हिरने! सखि! त्वमिदं करिष्यसि? मम कन्यादानदक्षिणां विवाहमण्डपे नयसि?

–नेष्यामि। अवश्यं नेष्यामि। वधुके! पश्य। तावकीनं वृत्तमहमेव किशोरं ख्यापितवतीतिकृत्वाऽसौ मां समाद्रियते। अतएव पुण्यप्राप्त्यर्थमहमपि कन्यादानविधिं सम्पादयितुमिच्छामि मयेति प्रार्थितः पण्डितकिशोरोऽवश्यमेव मामनुमंस्यते। अन्याश्चापि द्वित्रा हरिजनवृद्धाः सहैव नेष्यामि, यथा किशोरमनसि काऽपि शङ्का न जायेत।

साधु साधु हिरने। अद्य त्वया समुद्धृताऽस्मि। आमरणं कार्तज्ञ्यभारमिदं वहिष्यामि। इति कथयित्वैव कलावती शतरूप्यकाणि वाराणसेयीं दुकूलशाटीं पैत्तलं पिठरं मल्लकम् अन्यच्च मङ्गलद्रव्यजातं हिरनायै समर्पितवती। भूयोऽप्यकथयत्–सखि! हिरने! एतदप्याख्येयं यत्सर्वमिदं दक्षिणाद्रव्यजातं मया महत्योत्कण्ठया क्रीतं पुण्यमर्जितुम्। कन्यादानविधिञ्च सम्पाद्य स्वगृहमगत्वा ममान्तिकमेव समागच्छ। तव शयनादिव्यवस्थामहमत्रैव करिष्ये।

–अलमुत्ताम्य वधुके! सर्वमहं करिष्ये। मयाऽपि सन्ततयःप्रसूताः। सन्ततिपीडां सम्यक्तया जानामि। तदलं चिन्तया! तव कन्यादानविधिस्साधु सम्पादयिष्यते मया। तदहं प्रतिष्ठे। ब्राह्मणानां विवाहोत्सवोऽयम्। विवाहार्थं वरपक्षीया जना मण्डपमागताः स्युः।

कलावतीमुखमण्डले स्मितलेखां कर्षन्ती हिरनाऽन्धकारे क्वचिद् विलुप्ता। किशोरगृहादुत्थितो विविधवाद्यध्वनिस्तामतितरां त्वरयतिस्म।

–रचनाकालः, शिमला
१३.१२.२००९ ई०।

•

परिशिष्ट-एक

सुभाषितानुक्रमणिका

स आसीन्मम तातपादः

१. स्वर्णकुद्दालो दर्शनाय भवति, न पुनर्धरित्रीखननाय।
सोने की कुदाल देखने के लिए होती है न कि धरती खोदने के लिये।

२. पामराणां सङ्गतौ क्व परिष्कारः?
गँवारों (असभ्यों) के बीच चोखापन कहाँ?

३. वहतो नीरस्य रममाणस्य योगिनो वा न कोऽपि निश्चितो मार्गः।
बहते पानी और रमते जोगी का कोई निश्चित मार्ग नहीं होता।

प्रीतिदर्पणः

४. हन्त, सर्वथा परवशोऽयं जीवो जननमरणविषये।
ओह, जन्म और मृत्यु के विषय में प्राणी सर्वथा परवश है।

५. परिणयो नाम चित्ताकर्षकं बिम्बफलमेव। योऽश्नाति सोपि तिक्तास्वादवशात् पश्चात्तपति, योऽनश्नाति सोऽपि सन्दिग्धस्वादलोभवशात्।
शादी तो बस मनभावन (तीते) कुन्दुरू-फल जैसी है। जो खाये वह भी पछताये तीते स्वाद के कारण, जो न भी खाये वह भी पछताये कि शायद स्वाद अच्छा हो।

६. अवसिते सति मधुकोशे को नु भ्रमरः पुष्पवीथीं पश्यति?
मधु रिस जाने पर भला कौन भौंरा फुलवारी में आता है?

७. निर्जलायां नद्यां नौतरणस्य सम्प्रति का सम्भावना?
सूखी नदी में अब नाव तैरने की क्या संभावना?

८. वस्तुतः दाम्पत्ये प्रीतिमात्रं भुज्यते, न तावच्छरीरम्।
वस्तुतः पति-पत्नी द्वारा प्रेम का ही भोग किया जाता है, न कि शरीर का।

९. प्रीतिं भुक्त्वैव जायते परितोषो, निर्वृतिर्वा।
प्रेम को भोग कर ही सन्तुष्टि अथवा आनन्दप्राप्ति होती है।

१०. वेश्यां भुक्त्वा कथं न जायते तृप्तिः? यतो हि लम्पटो जनो वेश्यायाः शरीरमात्रं भुनक्ति, न तस्याः प्रीतिम्।
वेश्या को भोग कर भी तृप्ति क्यों नहीं होती? क्योंकि लम्पट व्यक्ति केवल वेश्या के शरीर का भोग करता है, न कि उसके प्रेम का।

मध्यमाज्जुका

११. यो हि भर्त्स्यते स एवोपलाल्यते।
जो डाँटा जाता है वही दुलारा भी ज़ाता है।

छिन्नमस्ता

१२. यस्मिन् पत्रे खादसि तस्मिन्नेव छिद्राणि विदधासि?
जिस पतरी में खाता है उसी में छेद बनाता है?

१३. यादृशी निष्ठा समाजस्य सन्दृश्यतेऽवमानने व्यभिचारे लोकापवादे सम्पतने वा कस्यचित् न तादृशी समुन्नतावभ्युदये वा।
जैसी निष्ठा समाज की दीखती है किसी के अपमान, व्यभिचार, लोकापवाद तथा पतन में वैसी (उसके) अभ्युदय या उन्नति में नहीं।

प्रायश्चित्तम्

१४. गुडदानमात्रेण हन्तुं शक्याः किमर्थं गरलं निपाय्य दिवङ्गमयेयुः।
गुड़ खिलाने मात्र से मारने योग्य, जहर पिला कर क्यों मारे जाँय?

१५. प्रकृत्यैव सलिलप्रणयिन्यो भवन्ति महिष्यः।
भैसें स्वभावतः पानी की प्रेमी होती हैं।

१६. को नु जानाति नियतेर्विलसितम्?
भाग्य के खेल को भला कौन जानता है?

१७. किन्नु वृत्तं कस्य वृत्तान्तरस्य पृष्ठभूमिभूतमिति निश्चेतुं को नु शक्तः?
कौन घटना किस दूसरी घटना की पृष्ठभूमि है–यह भला निश्चित करने में कौन समर्थ है?

१८. अश्वत्थपत्रमिव भवति जननीहृदयम्। सन्देहवाते सञ्चरत्येव भृशं वेपते।
पीपल के पात सा होता है माँ का हृदय। सन्देह की हवा बहते ही काँपने लगता है।

मातुर्निमित्तम्

१९. जननीजातकयोः सम्बन्धार्थं कुक्षिर्नाऽपेक्ष्यते।
माँ और बेटे के सम्बन्ध के लिये कोख की जरूरत नहीं होती।

२०. तरुवृन्ते पक्वादाम्रात् समधिकमधुरं भवति बुसोष्मणि पक्वमाम्रम्।
पेड़ की टहनी में पके आम से कहीं ज्यादा मीठा होता है भूसे की गर्मी में पका आम।

२१. शरीरस्यास्य कोऽभिमानः? अन्तिमे समये केन किं भोग्यमिति को नु जानाति?
इस देह का क्या घमण्ड? अन्तिम घड़ी में किसको क्या भोगना है, यह कौन जानता है?

वाडवाग्निः

२२. रघुनाथाद् ऋते को नु भोक्ष्यतीदमयोध्याराज्यम्?
राम के अतिरिक्त और कौन भोगेगा यह अवध का राज्य?

२३. प्रभोर्गृहे विलम्बोऽवश्यमेव न पुनरन्यायः।
भगवान् के घर देर अवश्य है, पर अँधेर नहीं।

पितृष्वसा

२४. अन्नाऽवमानो न कदापि कर्तव्यः।
कभी भी अन्न का अपमान नहीं करना चाहिये।

२५. भोक्तर्यविद्यमाने सति किन्नु मूल्यं भोगानाम्?
भोक्ता (पति) के न रहने पर क्या मूल्य भोगों का?

२६. आमरणं शरीरं तु धार्यमेव। स्वस्थं स्याद् रोगजर्जरं वा। पुष्टं वा स्याद् गलितं वा।
मृत्यु आने तक तो शरीर को रहना ही है। स्वस्थ हो या रोगजर्जर! हट्टा-कट्टा हो या गलित!

२७. भाग्यपात्रे लघुनि सति सरोवरागाधजलमपि कियतीं तृषां हरिष्यति?
भाग्यरूपी बर्तन यदि छोटा है तो सरोवर का अगाध जल भी कितनी प्यास बुझायेगा?

कन्यादानम्

२८. परन्तु न सर्वाणि दिनानि तुल्यानि यान्ति।
सबै दिन जात न एक समान!

२९. दिवंगतः प्रियजनः न कथमप्युपावर्तनीयः।
मरे हुए प्रियजन को कथमपि लौटाया नहीं जा सकता।

३०. क्षुत्क्षामकण्ठो जनः कामं कपित्थमपि भक्षयित्वोदरं पूरयेत् परन्तु समृद्धरसवती-कश्छविल्लः कथं नु तुष्येत् कदन्नेन?
भुखमरा आदमी भले ही कैथ भी खाकर पेट भर ले परन्तु छप्पनों भोग वाला रसिक कुभोजन से संतुष्ट कैसे हो सकता है?

३१. विषमिश्रितं जलं न पातुमुचितम्।
जहर पिला पानी पीना ठीक नहीं है।

३२. पूजागृहे विष्ठा न स्थाप्यते।
पूजाघर में मैला नहीं रखा जाता।

३३. पूतिमदङ्गं शरीरस्य समुच्छेतुमेव श्रेयस्करम्।
शरीर का सड़ा-गला अंग काट देना ही कल्याणकर है।

३४. न वयं मिष्टफुफ्फुसकल्पा यत्कतिपयजलविन्दुभिरेव गलिष्यामः।
हम मीठे बताशे नहीं हैं कि कुछ पानी की बूँदों से ही गल जायेंगे।

३५. कन्यादानं नाम पित्रोः कृते स्वर्गातिशायिपुण्यफलप्रदं कर्म।
कन्यादान, माता-पिता के लिये, स्वर्ग से भी बड़ा पुण्यफल देने वाला कर्म है।

परिशिष्ट-दो

विशिष्टशब्दानुक्रमणिका

स आसीन्मम तातपादः

निर्लेखकर्गजपर्णमिव-कोरे कागज के पन्ने की भाँति। पूरिकाशाकम्-पूड़ी और साग। माषराजमाषमिश्रितं कृशरम्-उड़द-राजमामिश्रित खिचड़ी। वृन्ताकालुकचौक्षम्-बैगन-आलू का चोखा। शरपत्रच्छदियुक्ते-सरपत की छाजन से युक्त।

निर्भाटकम्-बिना भाड़े के। धूसरप्रच्छदम्-मैली चादर को। वास्तुकशाकः-बथुवा का साग। अश्रूणि प्रोञ्छन्या मार्जयन्-आँसू रुमाल से पोंछता हुआ। विषाक्तं क्षाररसम्-विषैली तेजाब को।

प्रीतिदर्पणः

वार्धक्यरेखाः-झुर्रियाँ। कान्दिशीकं यौवनम्-ढलती जवानी। गोधूमद्विदलम्-गेहूँ की दलिया। चातुरक्षिकं न जातम्-आँखें चार नहीं हो पाईं। वर्षभोज्यमन्नम्-साल भर खाने का अन्न।

मध्यमाज्जुका

मध्यमाज्जुका-मँझली आजी। पराभिनयः-दूसरों की नकल उतारना। बृहद्यन्त्रम्-कोल्हू। कथङ्कथिकः-कैसे? कैसे? यह पूछने वाले। प्रकूर्द्यभाषिणी-बीच में कूद कर बतियाने वाली। कैवर्तवसतिः-केवटान। सूचीनिवेशः-इञ्जेक्शन। दीपशलाका-दियासलाई। यंत्रवर्तिका-टार्च। अनार्जवम्-बेईमानी। पर्यङ्कमुद्वेजयति-खटिया तोड़ती रहती है। समुदवर्तयत्-उड़ेल दिया। आभीरपल्ली-अहीरपाड़ा (अहिरान)। सपादाधिकनिर्यातनं पणीकृत्य-सवाई लगाकर लौटाने की शर्त पर। पेषिणी-जाँत (चक्की)। लघुपेषिणी-चकरी (छोटा जाँत)। कण्डिनी-ओखली (काँड़ी)। वज्रान्नम्-बाजरा। रुक्कवचम्-रिंकवच (सालन)। रुजो रोगस्य कवचं वारकम्। निगडितवत्यः-जकड़ लिया।

छिन्नमस्ता

पाण्डुमृत्तिका-पिंडोर माटी (पीली मिट्टी)। कक्षकुञ्जिका-कमरे की चाभी। लब्धावकाशा-फुर्सत पाने पर। सन्धिनी-मैथुन की स्थिति वाली गाय। अनवबोधस्वापः-कोमा (मूर्च्छा)। श्यालपत्नी-सलहज। द्विरागमनम्-गौना (विवाह के बाद वधू का दूसरी बार ससुराल आना)। गोमयकरीषम्-गोबर से बना उपला। असकृदुद्वृत्तजिह्वाग्रा-जीभ लपलपाती हुई। थूत्कृत्यलिह-थूक कर चाट। मुद्गकृशरम्-मूँग की खिचड़ी। धूलिधूसरितपादैः-धुरियाये पाँव।

प्रायश्चित्तम्

महिषीशङ्कु-भैंस का खूँटा। अदोग्ध्री-ठाँठ (दूध न देने वाली)। क्षीरस्याधिश्रयणम्-दूध का खौलाना। बहुक्षीरा-दुधारू।

हस्तावेव पीडयन्-हाथ ही मलते (रह जाआगे)। मनोरथान् कुर्वती-मनौतियाँ मानती। असत्यजालं वयन्ति-झूठ का जाल बुनते हैं। भक्ष्यद्रोणीम्-चारे की नाद तक। भूगर्तः-गड्ढा। उद्घातः-दूह (उभार)। तटबन्धः-मेड़।

मातुर्निमित्तम्

पञ्चनदीयः-पञ्जाबी। ऋणनिर्यातनाद्-कर्जा लौटाने से। बृहज्जलप्रणालयन्त्रम्-मोटी पाइप का पानी का नल। सुवर्णमुद्गलतिस्म-सोना उगलती थी। बुसागारः-भुसौल। सम्भालयितुम्-सँभालने के लिये। खट्वाकर्तनम्-खटिया काटना। जीपयानं चेतयित्वा-जीप स्टार्ट करके।

वाडवाग्निः

भुशुण्डीपृष्ठैः-बन्दूक के कुन्दो से। रक्षिस्थानम्-थाना (पुलिस स्टेशन)।

पितृष्वसा

विष्टरः-बिछौना। आस्तरणम्-चादर। उपधानम्-तकिया। आवरणम्-ओढना। अंगप्रोञ्छनम्-अँगौछा।

कन्यादानम्

कुम्भीलदृष्ट्या-चोरीछिपे। प्रतीपदिङ्मुखीना-मुँह फेर कर। लोतकासारम्-अश्रुधारा को। पैत्तलं पिठरम्-पीतल की परात को।

•

परिशिष्ट-तीन

अभिराज-साहित्य (प्रकाशित)

।। संस्कृत ।।

(क) अर्वाचीनसंस्कृतकाव्यम्

महाकाव्यम्

१. जानकीजीवनम् (२१ सर्गाः) (वाचस्पति-सम्मान) — १९८८ ई०

२. वामनावतरणम् (१७ सर्गाः) (कालिदास-सम्मान) — १९९४ ई०

खण्डकाव्यम्

१. आर्यान्योक्तिशतकम् (अन्योक्तिकाव्यम्) — १९७५ ई०

२. नवाष्टकमालिका (स्तोत्रकाव्यम्) — १९७६ ई०

३. पराम्बाशतकम् (स्तोत्रकाव्यम्) — १९८१ ई०

४. शताब्दीकाव्यम् (ऐतिह्यकाव्यम्) — १९८७ ई०

५. अभिराजसप्तशती (कोशकाव्यम्) — १९८७ ई०

६. धर्मानन्दचरितम् (तीर्थकाव्यम्) — १९९२ ई०

७. पञ्चकुल्या (कोशकाव्यम्) — १९९३ ई०

८. करशूलनाथमाहात्म्यम् (भक्तिकाव्यम्) — १९९६ ई०

९. कस्मै देवाय हविषा विधेम (कोशकाव्यम्) — १९९६ ई०

१०. अरण्यानी (काव्यसंग्रहः) — १९९९ ई०

११. संस्कृतशतकम् — १९९९ ई०

१२. अभिराजसहस्रकम् (१० शतकानि) — २००० ई०

१३. मृगाङ्कदूतम् (दूतकाव्यम्) — २००३ ई०

१४. चर्चरी (काव्यसंग्रहः) — २००४ ई०

१५. मृगमगेन्द्रान्योक्तिशतकम् — २००८ ई०

१६. वैतरणी (काव्यसंग्रहः) — (प्रेस में)

१७. अभिराजदण्डकम् (दण्डककाव्यम्) — (प्रेस में)

नवगीतसंग्रहः

१. वाग्वधूटी (५५ गीतानि) — १९७८ ई०

२. मृद्वीका (५३ गीतानि) — १९८५ ई०

३. श्रुतिम्भरा (३८ गीतानि) — १९८९ ई०

४. मधुपर्णी (६८ गीतानि) — २००० ई०

५. कौमारम् (५१ शिशुगीतानि) — २००६ ई०

गलज्जलिकासंग्रहः

१. मत्तवारणी (६५ गलज्जलिकाः) — २००३ ई०

२.	शालभञ्जिका (६८ गलज्जालिकाः)	२००६ ई०
३.	कनीनिका (५३ गलज्जालिकाः)	२००९ ई०
४.	हविर्धानी (५४ गलज्जालिकाः)	२००९ ई०

(ख) अर्वाचीनसंस्कृतरूपकम् (४ नाटक, ८० एकांकी)

एकाङ्किसंग्रहः

१.	नाट्यपञ्चगव्यम् (५ नाट्यानि)	१९७१ ई०
२.	अकिञ्चनकाञ्चनम् (१ नाट्यम्)	१९७४ ई०
३.	नाट्यपञ्चामृतम् (५ नाट्यानि)	१९७७ ई०
४.	चतुष्पथीयम् (४ नाट्यानि)	१९८३ ई०
५.	रूपरुद्रीयम् (११ नाट्यानि)	१९८६ ई०
६.	नाट्यसप्तपदम् (७ नाट्यानि)	१९९६ ई०
७.	नाट्यनवग्रहम् (९ नाट्यानि)	२००६ ई०
८.	नाट्यनवरत्नम् (९ नाट्यानि)	२००६ ई०
९.	नाट्यनवार्णवम् (९ नाट्यानि)	२०१० ई०
१०.	रूपविंशतिका (२० नाट्यानि)	------

सम्पूर्णनाटिकाः नाटक

१.	प्रमद्वरा (चतुरंकिका)	१९८४ ई०
२.	विद्योत्तमा (चतुरंकिका, कल्पवल्ली सम्मान)	१९९२ ई०
३.	प्रशान्तराघवम् (सप्ताङ्कनाटकम्)	२००६ ई०
४.	लीलाभोजराजम् (सप्ताङ्कनाटकम्)	------

(ग) अर्वाचीनसंस्कृतकथासाहित्यम्

कथासंग्रहः

१.	इक्षुगन्धा (८ कथाः, सा० अकादमी पुरस्कारः १९८८)	१९८६ ई०
२.	राङ्गडा (९ कथाः)	१९९२ ई०
३.	चित्रपर्णी (६० लघुकथाः)	१९९९ ई०
४.	पुनर्नवा (११ कथाः)	२००८ ई०
५.	अभिनवपञ्चतन्त्रम्	२००९ ई०
६.	कान्तारकथा(Jungle Story Book)	२००९ ई०
७.	छिन्नमस्ता (९ कथाः)	२०१० ई०

(घ) समीक्षा-साहित्य एवं पाठ्यग्रन्थ

अभिनवकाव्यशास्त्रम्

१.	अभिराजयशोभूषणम् (५ उन्मेषाः)	२००६ ई०

शोधग्रन्थाः

१.	संस्कृत साहित्य में अन्योक्ति (डी० फिल् शोधप्रबन्ध, हिन्दी सा० सम्मेलन प्रयाग)	१९८५ ई०

२. मणिकाञ्चन (१८ हिन्दी शोधनिबन्ध) — १९८५ ई०
३. शास्त्रालोचनम् (१८ संस्कृत शोधनिबन्ध) — १९९५ ई०
४. समीक्षासौरभम् (२५ संस्कृत शोधनिबन्ध) — २००३ ई०
५. सप्तधारा (सात शीर्षकों में विभक्त ५० निबन्ध) — २००४ ई०
६. स्वाध्यायपर्व (३० हिन्दी शोधनिबन्ध) — २०१० ई०
७. Poetry and Poetics (अंग्रेजी शोधनिबन्ध) — प्रेस में
८. शोधप्रविधि एवं पाण्डुलिपिविज्ञान — २००८ ई०
९. संस्कृत का अर्वाचीन समीक्षात्मककाव्यशास्त्र (वि०वि०प्र० वाराणसी) — २०१० ई०
१०. विंशशताब्दीसंस्कृतग्रन्थसूचीपत्रम् (Catalogue of 20th Century Sans. Works) — २००२ ई०

पाठ्यग्रन्थाः

१. किरातार्जुनीयम् (प्रथमसर्गः, प्रथम संस्करण) — १९७० ई०
२. कादम्बरीकथामुखम् (B.A. Class) — १९७३ ई०
३. छन्दोऽलङ्कारसौरभम् (B.A. Class) — १९८० ई०
४. रसनिरूपणम् (B.A. Class) — १९८६ ई०
५. संस्कृतगद्यामृतम् (B.A. Class) — १९९६ ई०
६. साहित्यदर्पण : (३ परिच्छेद) (B.A. Class) — १९९९ ई०
७. संस्कृतकाव्यत्रिपथगा (Intermediate Class) — २००० ई०
८. संस्कृतामृतचन्द्रिका (Intermediate Class) — २००० ई०

(ङ) कुछ विशिष्ट कृतियाँ

१. SEJARAH KESUSASTRAAN SANSKERTA
(History of Sanskrit in Bahasa Indonesia)
First Edition Denpasar, Bali, (*Indonesia*) — १९८८ ई०
२. Number of Rasas (रसों की संख्या)
(डॉ० राघवन्-प्रणीत ग्रन्थका हिन्दी रूपान्तरण)
विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी द्वारा प्रकाशित — २००७ ई०
३. रामायणककविन् (यवद्वीपीय रामायण)
(देवनागरी लिप्यन्तरण, हिन्दी अनुवाद एवं विस्तृत भूमिका)
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा प्रकाशित, — १९९५ ई०
४. सुवर्णद्वीपीय रामकथा
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित — १९९६ ई०

५. बालीद्वीपे भारतीया संस्कृतिः
ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली द्वारा प्रकाशित २००९ ई०

६. कस्मै देवाय हविषा विधेम (प्रकाशितम्) १९९७ ई०
देवस्तुति, महात्मस्तुति, विद्वत्स्तुति, राजस्तुति, सत्पुरुषस्तुति एवं प्राकीर्णस्तुति शीर्षकों में विभक्त प्रायः १०० अष्टक।

७. भारतीय संस्कृति का जीवन्त प्रतीक : बाली द्वीप
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित १९९९ ई०

८. ओङ्कारविज्ञानम् (साईदासबाबा-प्रणीतम्)
हिन्दी रूपान्तर एवं भूमिका (यंत्रस्थ)

९. स्वर्णजयन्तीसंस्कृतकाव्यम्
(पञ्चाशन्मितानां मूर्द्धन्यकवीनां काव्यानि)
सम्पादन, संकलन एवं भूमिका, गुजरात राज्यसंस्कृत-अकादमी द्वारा प्रकाश्य (यंत्रस्थ) २००० ई०

१०. विंशशताब्दीसंस्कृतकाव्यामृतम्
(शताधिकसंस्कृतकाव्यकाराणां कवित्ववैभवम्)
सम्पादन, संकलन एवं भूमिका, दिल्ली संस्कृत अकादमी द्वारा प्रकाशित, २००० ई०

११. कल्पवल्ली (संस्कृत काव्यसंकलना)
साहित्य अकादमी, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित यंत्रस्थ

(च) अभिराजवाङ्मय-समीक्षाग्रन्थाः

१. अभिराजराजेन्द्रः व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व २००५ ई०
(सम्पादक डॉ० राजेशकुमारी मिश्र)

२. साहित्यकल्पतरुः अभिराजराजेन्द्र २०१० ई०
(लेखिका-डॉ० राजेशकुमारी मिश्र)

३. Abhirāja Dr. Rajendra Mishra and His works (Three Volumes) २००९ ई०
(By : Dr. S. Ranganath, Bangalore)

४. जानकीजीवनम् : अभिनवस्पर्श २००८ ई०
(डॉ० सुमन जैन, श्रीगंगानगर)

५. आधुनिक संस्कृत गद्यकार-पुष्प १ २००८ ई०
डॉ० अभिराज राजेन्द्र मिश्र (गुजराती)
(डॉ० मुकेश आर० पण्ड्या, पीलवाई, महेसाणा, गुजरात

६. अभिराजराजेन्द्रमिश्रविरचितशतकद्वयम् २००९ ई०
(गुजराती अनुवाद-डॉ० राधा एम्० पटेल, पालनपुर, गुजरात

७. इक्षुगन्धा (साहित्यअकादमी-पुरस्कृत) २००९ ई०
(बँगला रूपान्तर-श्रीमती अमिता चक्रवर्ती)
साहित्य अकादमी कलकत्ता द्वारा प्रकाशित

प्रकाशितम्

अभिराजराजेन्द्रवाङ्मयम्
(Hindi & English)

काव्यसंग्रह

१. दो पात नींबू-तीन पात अमोला (६८ कविताएँ) १९६८ ई०
२. मुक्तधारा (२० गीत) १९७२ ई०
३. सपनों में डूब गया मन (५५ गीत) १९७२ ई०
४. पलकों के बन्द द्वार (५३ गीत) १९९० ई०
५. तटस्था (जनवादी कविताएँ) २००३ ई०

खण्डकाव्य

१. वेदना (भूमिका : पं० सुमित्रानन्दन पन्त) १९६६ ई०
२. पनघट (भूमिका : डॉ० रामकुमार वर्मा) १९६७ ई०
३. मुक्तिदूत (हाईस्कूल के पाठ्यक्रम में निर्धारित) १९७५ ई०
४. पूर्णकाम (भरत पर आश्रित) १९७५ ई०
५. गृहत्याग (तथागत पर आश्रित) १९७५ ई०

बालसाहित्य

१. बच्चों के पाहुन (पंचतंत्र की पद्यकथाएँ) १९७५ ई०
२. पढ़ो और बनो (सचित्र बालकथाएँ) १९७६ ई०
३. वन के गीत-मन के मीत (पद्यकथाएँ) १९७६ ई०
४. नया विहान (तीन एकाङ्की) १९७६ ई०
५. महाभारत की किशोरकथाएँ १९८१ ई०
६. तितली के पंख (३० शिशुकविताएँ) १९८२ ई०
७. रक्ताभिषेक (तीन एकाङ्की) १९८५ ई०

भोजपुरी काव्यसंग्रहः

१. फगुनी बयार (१२० गीत) १९९२ ई०

गद्यवाङ्मयः

१. विधवा (आञ्चलिक उपन्यास) १९७३ ई०
२. देवरा हजारी (कथासंग्रह) १९९४ ई०
३. रक्तवैतरणी (कथासंग्रह) २००५ ई०

सम्पादित ग्रन्थः

१. देववाणीसुवासः (दो भाग) १९९३ ई०
॥ डॉ० रमाकान्त शुक्लअभिनन्दनग्रंथ ॥
२. प्रतानिनी (काव्यसंग्रहः) १९९६ ई०
॥ आचार्य बच्चूलालअवस्थी-प्रणीत ॥

३. ब्रह्मविद्यारसायनम् २०१० ई०
।। आचार्य आद्याप्रसादमिश्र-अभिनन्दनग्रंथ ।।
४. संस्कृत-वाङ्मय में हिमाचल २००९ ई०
५. संस्कृतवाङ्मय में गङ्गा २०१० ई०
।। पुण्यश्लोक डॉ० देवेन्द्रमिश्र-शोधप्रबन्ध ।।
६. शिवशेखरसमज्ञा ------
।। प्रो० शिवशेखरमिश्र-अभिनन्दनग्रन्थ।।

अप्रकाशितवाङ्मयम्

१. बदरा भइल मोरा दूत (मेघदूत का भोजपुरी रूपान्तरण)
२. बिरहा कै रैन (खण्डकाव्य)
३. सकुन्तला (भोजपुरी महाकाव्य)
४. गन्धमादन (राष्ट्रीय काव्यसंग्रह)
५. सुपर्ण (खण्डकाव्य)
६. पाषाणी (खण्डकाव्य)
७. त्रिणाचिकेत (काव्यरूपक)
८. अदृश्यन्ती (पौराणिक नाटक, तीन अंक)
९. दुर्योधनवध (मंचीय नाटक, पाँच अंक)
१०. रोदसी (महाकाव्य, १५ सर्ग, अपूर्ण)
११. टिटनेसवार्ड की पाँच रातें (डायरी)
१२. हिमालय के आँगन में (यात्रावृत्त)
१३. मेरी प्रथम दक्षिणभारत-यात्रा (यात्रावृत्त)
१४. महाकाल की नगरी में (यात्रावृत्त)
१५. सुवर्णद्वीप में भारतीय वर्चस्व
१६. अस्थिकलश (खण्डकाव्य)
१७. नाच्यौ बहुत गोपाल (आत्मकथा)
१८. पुश्यश्लोको नलो राजा (संस्मरण-संग्रह)
१९. आत्मख्यात कालिदास (समीक्षाग्रंथ)
२०. अभिराजदण्डकम् (दण्डककाव्य-संग्रहः)
२१. बालीविलासम् (खण्काव्यम्)
२२. गीतभारतम् (रागकाव्यम्)
२३. अभिराजचम्पूः (चम्पूसंग्रहः)
२४. काव्यतरङ्गिणी (संस्कृतसाहित्येतिहासः)
२५. छन्दोऽभिराजीयम् (अभिनवच्छन्दश्शास्त्रम्)
२६. अभिराजगीतमाधुर्यम्
२७. पृथुवंशम् (महाकाव्यम्)

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः

उत्तर-प्रदेश के पूर्वांचल जनपद जौनपुर में द्रोणीपुर नामक गाँव में पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र एवं महीयसी अभिराजीदेवी के मध्यम-पुत्र के रूप में २ जनवरी, १९४३ ई० को उत्पन्न प्रो० 'अभिराज' राजेन्द्रमिश्र इलाहाबाद एवं शिमला विश्वविद्यालय में आचार्य रहने के अनन्तर सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी के लोकप्रिय कुलपति रह चुके हैं।

प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के विद्यालय एवं पार्श्वस्थ कालेज में पूर्ण करने के बाद श्री मिश्र जी ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी०ए०, एम०ए० तथा डी०फिल्० उपाधियाँ प्राप्त की। १९६४ ई० की एम०ए० (संस्कृत) परीक्षा में वे सर्वोच्च अंक तथा प्रथम स्थान पाने के साथ ही साथ समूची आर्ट्स फैकल्टी के टॉपर भी रहे।

शोधकार्य सम्पन्न करने के साथ ही साथ आपने संस्कृत-विभाग इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में १० दिसम्बर, १९६६ ई० से अध्यापन प्रारम्भ किया तथा जनवरी, १९९१ ई० तक लेक्चरर एवं रीडर के रूप में वहीं कार्यरत रहे। इसी बीच भारत-सरकार ने उन्हें बालीद्वीप (इण्डोनेशिया) के उदयन विश्वविद्यालय में विजिटिंग प्रोफेसर नियुक्त कर दिया, जहाँ उन्होंने मार्च, १९८७ से अप्रैल १९८९ तक रहकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का उत्कृष्ट साहित्यिक कार्य किया। भारत लौटते ही प्रो० मिश्र जनवरी, १९९१ में हिमाचलप्रदेश युनिवर्सिटी, शिमला में आचार्य एवं अध्यक्ष नियुक्त हो गये। अभी सेवावधि बीती भी नहीं थी कि महामहिम कुलाधिपति, उ०प्र० ने उन्हें सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी का कुलपति नियुक्त कर दिया २४ अप्रैल, २००२ ई० को जहाँ वह २००५ ई० तक रहे।

हिन्दी, संस्कृत, भोजपुरी में काव्य, नाट्य, कथा एवं समीक्षा के प्रातिभ सर्जक तथा अंग्रेजी एवं प्राचीन जावीभाषा में भी आधिकारिक प्रवेश रखने वाले सहृदय कवि एवं प्रखर चिन्तक प्रो० राजेन्द्र मिश्र अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिके विद्वान हैं। उनका ज्ञान जितना गम्भीर एवं बहुआयामी है, अभिव्यक्ति उतनी ही मौलिक एवं बोधगम्य। उनकी वाणी का सम्मोहन लोगों को बरबस महीयसी महादेवी वर्मा एवं आचार्य विद्यानिवास मिश्र का स्मरण कराता है।

शताधिक यशस्वी कृतियों एवं प्रायः तीन सौ शोध-निबन्धों के सर्जक प्रो० मिश्र को साहित्य अकादमी (१९८८), के०के० बिरला फाउण्डेशन का वाचस्पति सम्मान (१९९३), कालिदास सम्मान (१९८८, १९९६),

ISBN : 978-93-80632-00-1